साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध का आत्म-संघर्ष : संदर्भ 'हमारा शहर उस बरस'

एम.फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु–शोध प्रबन्ध

शोध–निर्देशक :
डॉ. पुरूषोत्तम अग्रवाल

शोधार्थी
आनन्द कुमार त्रिपाठी

2004

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली - 110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067

DATE- 28 JULY 2004

DECLARATION

I declare, that the material in this Dissertation entitled **"SAMPRADAAYIKTA KE PRATIRODH KA AATM-SANGHARSH : SANDARBH 'HAMARA SHAHAR US BARAS' "** submitted by me is original research work and has not been previously submitted for any other degree of this or any other University/Institution.

आनन्द कुमार त्रिपाठी

Anand Kumar Tripathi

(RESEARCH SCHOLAR)

DR. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(SUPERVISOR)
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE
LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067

PROF. NASEER AHMAD KHAN
(CHAIRPERSON)
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE
LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110067

गौतम मामा और बंटी भैया को

जिनकी स्मृतियाँ ही शेष हैं...

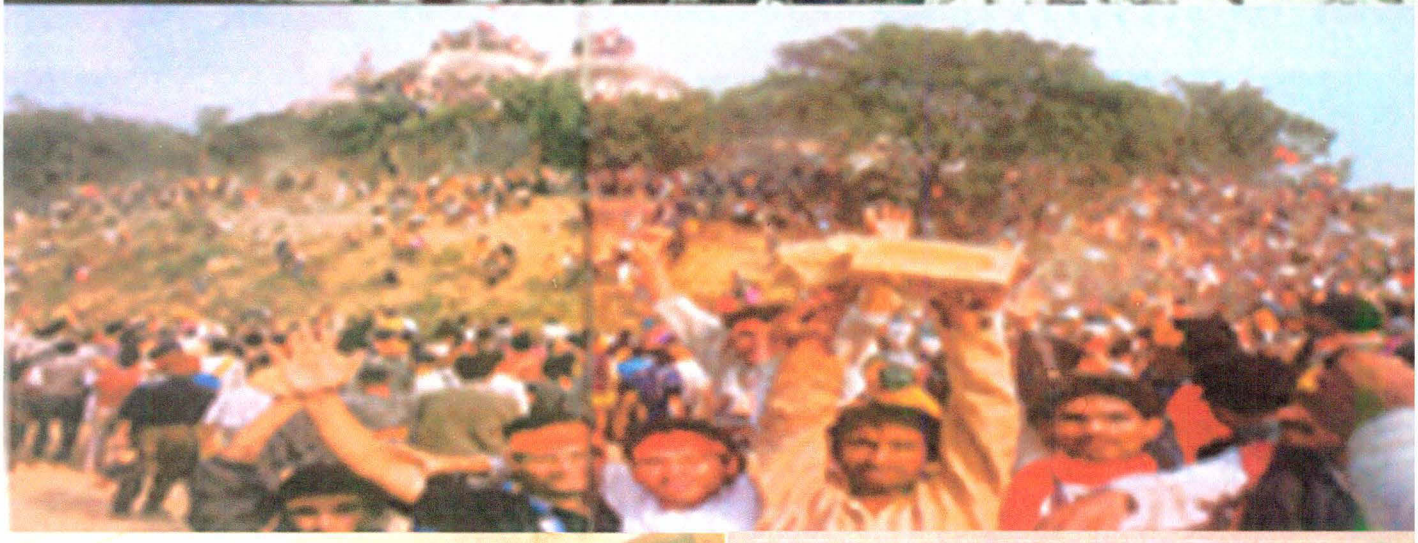

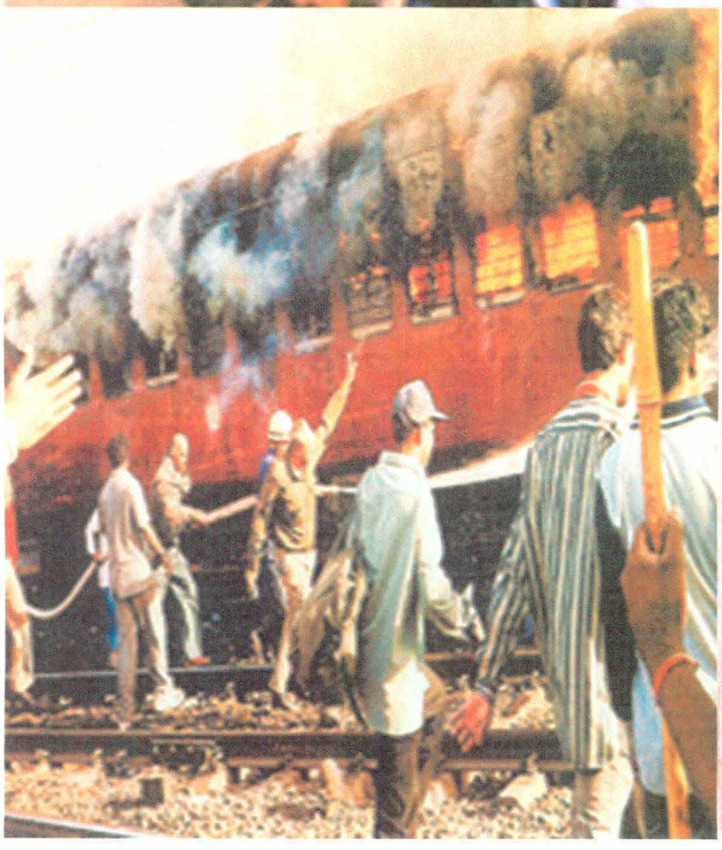

"मैं बेपनाह अंधेरों को सुबह कैसे कहूं,
मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं।"

''स्याह और सफेद में नहीं बँटी हैं कौमें, न सच, न समाज।''

(हमारा शहर उस बरस)

...अधूरा है काफिया

6 दिसम्बर 1992 को घटित बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना, एक किशोर मन के स्मृति–पटल पर एक ऐसी घटना के रूप में दर्ज हुई, जो नहीं होनी चाहिए थी। बाबरी–मस्जिद के शहर अयोध्या से भौगोलिक नजदीकी और इस नजदीकी के कारण लगातार सायरन बजाती–दौड़ती गाड़ियाँ और बार–बार सील हो जाती सीमाएँ, इस स्मृति को लगातार कुरेदती रहीं। करीब एक दशक बाद, गुजरात की त्रासदी युवा हो चले इस किशोर के लिए अजानी–अचीन्ही घटना नहीं रह गई थी। अब यह साफ–साफ दिख रहा था कि गुजरात की त्रासदी अकस्मात नहीं थी बल्कि अयोध्या कांड इसी शृंखला की पूर्वपीठिका थी। तब मुझे ऐसा लगा कि मानवता के विरुद्ध चल रही इस साजिश की चीर–फाड़ अपने स्तर पर करना जरूरी है और इसका औजार बना उपन्यास–''हमारा शहर उस बरस''।

अब समस्या यह थी कि चीर–फाड़ का तो मन बना लिया लेकिन यह होगी कैसे? इस बारे में कुछ सूझ नहीं रहा था। ऐसे वक्त पर मेरे शोध–निर्देशक डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने मुझे राह दिखाई जो खुद ''साम्प्रदायिकता विरोधी आन्दोलन'' नामक संगठन से गहरे रूप से जुड़े रहे हैं। डॉ. अग्रवाल अपने सामाजिक अनुभवों और बौद्धिक चिन्तन की समन्वित भूमि पर शब्द और कर्म के अलगाव को समाप्त करते हुए साम्प्रदायिकता की समस्या से टकराते रहे हैं। डॉ. अग्रवाल से मेरा पहला परिचय कबीर की कविता के माध्यम से हुआ। कबीर के पारम्परिक पाठ से नितांत भिन्न इस पुनर्पाठ ने कबीर को समझने की एक नई दृष्टि तो प्रदान ही की, साथ ही मेरे अन्दर गहरी प्रश्नाकुलता और जिरह की प्रवृत्ति भी पैदा की। इसी प्रश्नाकुलता और जिरह की प्रवृत्ति से उपजा है– यह लघु शोध–प्रबन्ध।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में बहुआयामी साम्प्रदायिकता के जटिल इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान से टकराते–उलझते हुए उसके बुनियादी

चरित्र की पड़ताल है। साथ ही भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता के बदलते हुए रुपों को रेखांकित करते उसका एक मुकम्मिल ग्राफ तैयार करने की कोशिश की गई है। दूसरे अध्याय में 'आत्म'–'अन्य' या 'अन्दर'–'बाहर' के सवालों के जरिए साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध के अगुआ बुद्धिजीवी वर्ग के आत्मसंघर्ष की पड़ताल है। तीसरा अध्याय 'हमारा शहर उस बरस' के शिल्प से गुजरते हुए रचनाकार – गीतांजलि श्री की प्रयोगधर्मिता और सृजनशीलता को रेखांकित करता है।

इस लघु शोध–प्रबंध को और अधिक व्यवस्थित बनाने के क्रम में रचनाकार गीतांजलि श्री से मिलना हुआ। लेकिन वह मुलाकात एक औपचारिक भेट न होकर एक सहज आत्मीय संवाद में रूपांतरित हो गई। समझ में नहीं आता कि उन्हें धन्यवाद दूँ भी तो कैसे? यह उलझन ही शायद उनके प्रति मेरा आभार है। इसी मुलाकात में प्रसिद्ध इतिहासकार और चिन्तक सुधीर चन्द्र से भी मिलना हुआ। उनसे हुई बातचीत में कई उलझी बातें साफ हुईं। इतने बड़े व्यक्तित्व के बावजूद इतनी सहजता–सरलता का संयोग कम ही मिलता है। उनके लिए धन्यवाद शब्द तो बहुत छोटा है, लेकिन औपचारिकता का निर्वहन तो करना ही है।

इस लघु शोध–प्रबन्ध के लिखने में जहाँ 'संदीप' की अप्रत्यक्ष भूमिका, प्रत्यक्ष सहयोग से ज्यादा महत्वपूर्ण रही वहीं 'संजय' शोध–प्रबन्ध लिखने की पीड़ा में बराबर का साझीदार रहा। आलोक के संपादकीय व्यक्तित्व के चलते ही यह लघु शोध–प्रबन्ध कुछ व्यवस्थित आकार पा सका। 'समर पंडित' से हुई तमाम बहसें (?) भी कैसे भुलाई जा सकती है। अभिषेक के विचारों, पंकज के 'बतरस' और प्रशान्त के सुझावों से यह लघु शोध–प्रबन्ध समृद्ध हुआ।

अतुल सर, धीरू सर, अटल भैया और अमित जी से बड़े भाई का आत्मीय स्नेह तो मिला ही साथ ही विषय के संदर्भ में जरूरी सूत्र भी। इस कठिन काम को करना सम्भव न हो पाता यदि नागेश, अमित राजन, संतोष जी, राजीव, प्रदीप, सागर, राजेश, सुभाष और पप्पू का साथ न मिलता। आशीष के रूप में 'रूम–मेट' कम छोटा भाई

ज्यादा, के शान्त–शालीन व्यक्तित्व ने इस काम में काफी मदद पहुँचाई। बिखरे शब्दों और पन्नों को एक लघु शोध–प्रबन्ध का रूप देने के लिए अशोक कुमार झा और गौरव को विशेष धन्यवाद।

और अन्त में, छोटी बहन निशी और भाई मोनू, मम्मी–पापा और मामी के लिए शब्दातीत हूँ..... जिनका प्यार और विश्वास ही मेरी शक्ति और प्रेरणा है।

बहरहाल, यह जरूर कहना चाहूँगा कि इस लघु शोध–प्रबंध में सुधार की ढेरो गुंजाईश हैं और काफी कमियाँ हैं जो सिर्फ मेरी है। दरअसल, सैद्धान्तिक धरातल पर यह लघु शोध–प्रबन्ध भले ही पूरा हो गया हो लेकिन व्यवहारिक धरातल पर अभी भी बहुत कुछ अधूरा है। कुछ यूँ कि – पूरी हुई रदीफ अधूरा है काफिया

दिनांक :
28.07.2004

आनंद कुमार त्रिपाठी

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

.....अधूरा है काफिया i-iii

प्रथम अध्याय : 1-37

साम्प्रदायिकता : एक विश्लेषण

1) वास्तविक चरित्र

2) ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

द्वितीय अध्याय : 38-50

आत्मालोचना की विकलता : अपनी ही खाल के नीचे छिड़े दंगे से दरपेश होने की कोशिश

तृतीय अध्याय : 51-61

विश्रृंखलता का कथाशिल्प : एक सर्जनात्मक प्रयोग

और बहस जारी है..... 62-63

परिशिष्ट-1 (रू-ब-रू रचनाकार से) 64-65

संदर्भ ग्रंथ सूची 66-71

प्रथम अध्याय

साम्प्रदायिकता : एक विश्लेषण

(1) वास्तविक चरित्र

(2) ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

(1) वास्तविक चरित्र :

"साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तो मारन धावै झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस में दोऊ लड़ै मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।"

कबीर "[1]

प्रतिरोधी संस्कृति के प्रतीक कबीर द्वारा अपने समय और समाज पर की गई यह विचारोत्तेजक टिप्पणी आज के उस भारतीय समाज के लिए भी पूर्णतया प्रासंगिक है, जहाँ सार्वभौम मानवीय मूल्यों और विचारों पर आधारित साँझी संस्कृति के बरक्स रक्त, नस्ल और जाति आधारित अस्मितापरक विशुद्ध संस्कृति की स्थापना के पुरजोर प्रयास किए जा रहे हैं। 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के नाम पर आज साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा भारतीय समाज के बहुलतावादी ढाँचे को तोड़ने की पुरजोर कोशिशें की जा रही है। कला, संस्कृति, साहित्य, शिक्षा तथा इतिहास आदि क्षेत्रों पर हो रहे संगठित हमले इसी प्रक्रिया की शर्मनाक परिणति हैं। भारतीय समाज के पिछले एक दशक – बाबरी मस्जिद विध्वंस (1992) से लेकर गुजरात नरसंहार (2002) तक – का इतिहास इसका जीता जागता गवाह है कि साम्प्रदायिकता बहुलतावादी भारतीय समाज के समक्ष एक गम्भीर चुनौती के रूप में आज उपस्थित हो चुकी है। प्रसिद्ध इतिहासकार के० एन० पणिक्कर के विचार में यह 'एक खतरनाक दशक' साबित हुआ है– "एक ऐसा दशक जिसमें साम्प्रदायिकता की प्रवृत्तियों ने राजनीतिक–सामाजिक–सांस्कृतिक जीवन का बहुत बड़ा तथा बढ़ता हुआ हिस्सा छेक लिया है और फासीवाद की प्रवृत्ति अपने ठोस एजेण्डे के साथ लम्बे–लम्बे डग भर रही है।"[2]

साम्प्रदायिक फासीवाद की 'क्रूरता की संस्कृति' की ओर संकेत करते हुए युवा कवि कुमार अम्बुज ने लिखा है–

''तब आएगी क्रूरता
पहले हृदय में आएगी और चेहरे पर न दिखेगी
फिर घटित होगी धर्मग्रन्थों की व्याख्या में
फिर इतिहास में और भविष्यवाणियों में
फिर वह जनता का आदर्श हो जाएगी।'[3]

कुमार अम्बुज (क्रूरता)

साम्प्रदायिकता आज भारतीय समाज का स्वभाव बनती जा रही है। साम्प्रदायिकता शक्तियों द्वारा लगाई जा रही सामाजिक और सांस्कृतिक सेंसरशिप का सामाजिक मानस में आत्मसातीकरण निरन्तर होता जा रहा है। स्वयंभू सामाजिक, सांस्कृतिक रक्षकों द्वारा भय की एक ऐसी संस्कृति की रचना की जा रही है, जिससे असहमति प्रकट करने से लोग डर रहे हैं। आम आदमी के नैतिक विवेक व सहजबोध का स्पेस निरन्तर सिमटता चला जा रहा है और परस्पर बहस और संवाद के सारे रास्ते बन्द होते जा रहे हैं। मनुष्य की पहचान प्रतीकों में ही सिमट गई है और सामुदायिक पहचान भी साम्प्रदायिक पहचान में तब्दील हो गई है। भय, तनाव और अविश्वास के ऐसे माहौल में जरूरत है एक सार्थक हस्तक्षेप की। मगर कोई भी हस्तक्षेप प्रतिरोध का असली मुहावरा तभी बन सकता है, जब साम्प्रदायिकता और उससे जुड़ी प्रतिगामी शक्तियों के चरित्र की पूरी पड़ताल कर ली जाए।

साम्प्रदायिकता को 'एक बहुलधर्मी समाज में पारस्परिक हितों के टकराव पर आधारित विचारधारा', 'धार्मिक अलगाव की अवधारणा', 'आर्थिक प्रतिस्पर्धा का विकृतीकरण' अथवा 'सत्ताधारी वर्ग का राजनीतिक उपकरण' आदि कई रूपों में परिभाषित करने के प्रयास किए गए हैं। परन्तु साम्प्रदायिकता एक बहुआयामी आधुनिक जटिल परिघटना है, अतः इसे टुकड़ों–टुकड़ों में नहीं समझा जा सकता है। साम्प्रदायिकता को समूचे तौर पर समझने के लिए एक समग्र दृष्टिकोण की जरूरत है। इस सन्दर्भ में डेविड लडेन की यह अवधारणा गौरतलब है कि ''साम्प्रदायिकता विरोध–

मूलक सामूहिक प्रवृत्ति है, जो धार्मिक, भाषायी और नृजातीय पहचान के परितः संगठित होती है।''[4]

बुनियादी तौर पर साम्प्रदायिकता एक ऐसी प्रतिगामी विचार–पद्धति है, जो व्यक्ति आधारित अस्मिता के बरक्स धर्म आधारित अस्मिता का निर्माण कर न सिर्फ वर्चस्वशील राजनीति वरन् सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैचारिक वर्चस्व की स्थापना का भी माध्यम बनती है। दरअसल साम्प्रदायिकता का गहरा सम्बन्ध राजसत्ता और समाजसत्ता, दोनों पर ही वर्चस्व स्थापित करने की राजनीति से है। इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण यह है कि साम्प्रदायिकता इन सत्ताओं से ही वैधता प्राप्त कर अपनी उपस्थिति और निरन्तरता बनाए रखती है।

भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता को एक सामाजिक समस्या–मात्र के रूप में सरलीकृत करने की आम प्रवृत्ति रही है। लेकिन इसके अपने गहरे निहितार्थ हैं, जिन्हें समझने की जरूरत है। भारतीय समाज की साम्प्रदायिकता और जाति–व्यवस्था जैसी बुनियादी समस्याओं को जब हम एक निश्चित दायरे में बाँध देते हैं, तो हम परोक्ष या अपरोक्ष रूप से यथास्थितिवादी साामजिक सत्ता– तन्त्र को ही बरकरार रखने की कोशिश करते हैं। साम्प्रदायिकता और जाति–व्यवस्था जैसी भारतीय समाज की बुनियादी समस्याओं का यह कृत्रिम विभाजन इनसे लड़ने की हमारी प्राथमिकताओं को ही बदल देता है। इस गहरी विडम्बना की ओर संकेत करते हुए डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि ''उन्नीसवीं सदी के सांस्कृतिक नवजागरण और उससे उपजी राष्ट्रवादी राजनीति की सबसे विकराल ऐतिहासिक सीमा यही थी कि उसने अपना प्रतिपक्ष केवल (या कम से कम मुख्य रूप से) औपनिवेशिक सत्ता और उसके सांस्कृतिक वर्चस्व को माना। यही कारण था कि राष्ट्रीय आन्दोलन के विचार और भावबोध में वह डरावनी झाँक पैदा हुई जिसके चलते जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे सवाल 'राजनीतिक' नहीं, सिर्फ और सिर्फ 'सामाजिक सवाल' थे। सामाजिक और राजनीतिक के बीच यह विचित्र विभाजन असल में सामाजिक सत्ता–तंत्र का रूपान्तरण करने के बुनियादी काम की उपेक्षा या उसे समझने की असमर्थता या उससे कतराने की चतुराई को सूचित करता था।''[5]

साम्प्रदायिकता का गहरा सम्बन्ध भारतीय सामाजिक सत्ता–तंत्र की धुरी अर्थात् जाति– व्यवस्था से भी है। लेकिन इन दोनों के रिश्तों की पड़ताल से पूर्व जाति–व्यवस्था की बनावट और बुनावट को समझना प्रासंगिक होगा। सर्वप्रथम इस भ्रामक धारणा पर विचार करने की जरूरत है कि जाति–व्यवस्था मात्र हिन्दू समाज का कलंक है। यद्यपि जाति–व्यवस्था का मूल तर्क अर्थात् 'वर्णाश्रम' निःसन्देह हिन्दू धर्म की अपनी निजी विशेषता है, तथापि सामाजिक व्यवहार में यह अन्य धर्मों में भी प्रचलित है। दरअसल 'जाति' मात्र हिंदू समाज की ही नहीं, अपितु भारतीय समाज की बुनियादी समस्या है। पिछड़ी व दलित मुस्लिम जातियों तथा दलित ईसाइयों द्वारा आरक्षण की वर्तमान माँग से यह स्पष्ट है कि इस सच्चाई को अल्पसंख्यक समाज भी महसूस कर रहा है कि भारतीय समाज में मूल सामाजिक विभाजन जाति के रूप में ही होता है। जाति–व्यवस्था वर्णाश्रम द्वारा तार्किक आधार प्राप्त कर आन्तरिक उपनिवेशों की निर्मित करती है, जिसकी भयावह परिणति स्वयं उत्पीड़ित जातियों द्वारा ही सामाजिक पदानुक्रम का आत्मसातीकरण है।

साम्प्रदायिकता, धार्मिक अस्मिता की आड़ में सामाजिक पदानुक्रम को बनाए रखकर और जाति –व्यवस्था के अन्तर्विरोधों पर पर्दा डालकर अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति करती है। पिछले दिनों साम्प्रदायिक फासीवादी शक्तियों द्वारा गुजरात को दंगों की प्रयोगशाला बनाकर, वहाँ साम्प्रदायिकता और जाति–व्यवस्था की जुगलबन्दी का जो बखूबी परीक्षण किया गया, वह इसका ताजातरीन उदाहरण है। दलित, आदिवासी समाज द्वारा वैकल्पिक अस्मिता की तलाश 'हिन्दुत्व अस्मिता' में ही सिमटकर कट्टरपंथी ताकतों के हाथ का खिलौना बनकर रह गई और इसकी शर्मनाक परिणति गुजरात के साम्प्रदायिक नरसंहार में हुई। गुजरात नरसंहार का सर्वाधिक अशुभ संकेत साम्प्रदायिक दंगों में दलितों और आदिवासियों की व्यापक भागीदारी रही, जो साम्प्रदायिकता और जाति–व्यवस्था के कुत्सित गठजोड़ की बर्बर दास्तान बयान करता है।

जहाँ तक साम्प्रदायिकता और धर्म के आपसी रिश्तों का सवाल है, वहाँ धर्म को साम्प्रदायिकता का बीज मानकर 'धार्मिक अलगाव की अवधारणा' मात्र के रूप में

साम्प्रदायिकता को सरलीकृत करने की आम प्रवृत्ति रही है। मर्ज (साम्प्रदायिकता) की यह गलत पहचान धर्म से इसके अन्तःसम्बन्ध के सही समझ के अभाव के कारण ही होती है। दरअसल साम्प्रदायिकता का धर्म से सिर्फ इस्तेमाल का ही रिश्ता है। साम्प्रदायिक विचार–पद्धति में धर्म बतौर आस्था व विवेक के सहजबोध, गहन नैतिक मानवीय मूल्य और जीवनदृष्टि का समुच्चय नहीं, बल्कि एक जड़ प्रजातीय अस्मिता है। साम्प्रदायिक तर्कपद्धति धर्म को 'नस्ल' में तब्दील कर मूल्याधारित समुदाय के बरक्स रक्ताधारित समुदाय की स्थापना की अपनी राजनीति धर्म के छद्म आवरण में करती है। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध विचारक असगर अली इन्जीनियर ने सही संकेत किया है कि, ''साम्प्रदायिकता का आधारभूत कारण राजनीति है न कि धर्म, धर्म तो केवल इसका उपकरण या हथियार है। जहाँ साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध राजनीति से है वहीं धर्म का आस्था से है। महात्मा गाँधी और मौलाना अबुल कलाम आजाद जैसे सच्चे धार्मिक व्यक्ति कभी साम्प्रदायिक नहीं हुए। इसी तरह मुहम्मद अली जिन्ना और वीर सावरकर जैसे साम्प्रदायिक व्यक्ति की कभी धर्म में सच्ची आस्था नहीं बनी। इन्होंने धर्म को सिर्फ एक राजनीतिक औजार माना।''[6]

साम्प्रदायिक विचार–पद्धति धर्म के साथ–साथ संस्कृति को भी अपनी लामबन्दी का औजार बनाकर सत्ता और समाज, दोनों ही तन्त्रों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की मुहिम चलाती है। इस प्रक्रिया में एक विचित्र घालमेल भरे ढंग से संस्कृति को धर्म का पर्याय बनाकर 'राष्ट्रीय धर्म' और 'राष्ट्रीय संस्कृति' के मुहावरों द्वारा आम आदमी से अपनी मंशा को वैधता दिलाने की नापाक कोशिश की जाती है। खतरनाक इरादों को छिपाने की इस राजनीति की ओर इशारा करते हुए प्रेमचंद ने ''साम्प्रदायिकता और संस्कृति'' निबन्ध में लिखा है कि, '' साम्प्रदायिकता सदैव संस्कृति की दुहाई दिया करती है। उसे अपने असली रूप में निकलते शायद लज्जा आती है, इसलिए वह गधे की भाँति जो सिंह की खाल ओढ़कर जंगल में जानवरों पर रोब जमाता फिरता था, संस्कृति का खोल ओढ़ कर आती है।'[7] यह महज संयोग नहीं है कि आज वही साम्प्रदायिक–फासीवादी ताकतें शिक्षा और संस्कृति की आड़ लेकर भारतीय संस्कृति के

वास्तविक प्रतिनिधि प्रेमचंद पर ही बेशर्म हमला कर रही हैं। यह गहरी विडम्बना है कि संस्कृति पर सबसे अधिक कुठाराघात आज उन तत्वों की ओर से ही हो रहा है, जो अपने आप को संस्कृति का स्वयंभू पहरूआ मान बैठे हैं। संस्कृति की बहुलता और जटिलता को सपाट मुहावरों में तब्दील कर देने वाले, संस्कृति के इन तथाकथित रक्षकों की, संस्कृति के बारे में समझ की ओर संकेत करते हुए डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि, ''राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के विमर्श में संस्कृति सामूहिक अनुभवों, रचनात्मक हस्तक्षेपों और शक्ति–संघर्षों से ऊर्जा ग्रहण करने वाली स्पन्दनशील वास्तविकता नहीं है, बल्कि संघर्ष और दमन को छिपा लेने वाली ऐसी व्यवस्था है, जो नफरत और विध्वंस के शब्द–जाल को फैलाते हुए अपना काम करती है।''[8]

साम्प्रदायिकतावादी संस्कृति की इकहरी और सपाट अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। संस्कृति को क्षैतिज संरचनाओं की जगह उर्ध्वमुखी पिरामिड के रूप में देखने वाली साम्प्रदायिक तर्कपद्धति में संस्कृतियों के आपसी संवाद की कोई गुंजाइश ही शेष नहीं बचती है। संस्कृति की बहुस्तरीय विविधता और गतिशीलता को नकार कर उसे एकजड़ वस्तु के रूप में तब्दील कर दिया जाता है। संस्कृति के शुद्धिकरण के नाम पर अपनी वर्चस्वशील संस्कृति को ही 'राष्ट्रीय संस्कृति' का जामा पहनाकर संस्कृतियों के बीच 'उन्मुक्त आवाजाही' की प्रक्रिया को ही अस्वीकार कर दिया जाता है। शुद्धतावादी दावों की इस सैद्धान्तिकी की पड़ताल करें तो याद आते हैं, 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्द–''देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है।'[9]

दरअसल संस्कृति इकहरी इकाई नहीं है, बल्कि कोई भी संस्कृति द्वन्द्वों के परस्पर संवाद से ही निर्मित होती है। भारतीय संस्कृति की विविधता, जीवन्तता और जिजीविषा का बुनियादी कारण ग्रहण–त्याग, समन्वय–संश्लेषण और निरन्तरता – परिवर्तनशीलता का अविरत स्पन्दन ही है। सुनील खिलनानी ने अपनी चर्चित पुस्तक 'भारतनामा' में भारतीय संस्कृति की विविधता और विभिन्नता के सन्दर्भ में दिलचस्प टिप्पणी की है कि, ''भारत सांस्कृतिक अन्योन्यक्रियाओं की धरती है, जिसमें असमान

हैसियत के पैरोकारों के बीच हुई इन अन्योन्यक्रियाओं ने कई बार बेचैनियाँ पैदा कीं लेकिन उनसे संस्कृति के विलक्षण और बेहतरीन रूपों का जन्म हुआ। विशुद्धता के पीछे भागने के बजाय संकरण के क्षणों को सृजनात्मकता तथा कल्पनाशीलता की पराकाष्ठा करार देने की दृष्टि तथा आक्रमण को समन्वय में, क्रम–भंग को नैरन्तर्य में और विभाजन को विविधता में बदल डालने की क्षमता ही भारतीय अतीत की विशेषता है।'[10]

भारतीय संस्कृति की चादर की बुनावट विविधता और विभिन्नता के धागों से हुई है। भारतीय संस्कृति की मूल पहचान ही 'सांस्कृतिक बहुलता' है। साम्प्रदायिक ताकतें इस मूल पहचान को ही मिटा देने पर आमादा है। नामवरजी की शब्दावली में कहें, तो ''संस्कृतियों की बहुलता पर पटेला चलाते हुए समतल करने का प्रयास किया जा रहा है।'[11] सांस्कृतिक बहुलतावाद को इकहरे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में तब्दील करने की इस राजनीति के पीछे एक गहरी समझदारी काम करती है, क्योंकि संस्कृति की जड़ता, इकहरेपन और सपाटबोध में ही साम्प्रदायिक ताकतों की जीवनी– शक्ति विद्यमान है।

इकहरेपन का आग्रह रखने वाले 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के जरिए साम्प्रदायिकता को राष्ट्रवादी चोला पहनाने की कोशिशें निरन्तर जारी हैं। इस सन्दर्भ में विडम्बना यह है कि हर सम्प्रदायवादी फासिस्ट राजनीति अपने को 'सच्चा राष्ट्रवादी' कहती है। राष्ट्रवाद के आकर्षक मुखौटे की आड़ में ही राजसत्ता और समाजसत्ता पर वर्चस्व स्थापित करने की राजनीति की जाती है। तथाकथित राष्ट्रवादी राजनीति की इस असलियत के सन्दर्भ में सही संकेत करते हुए सामाजिक चिन्तक जयरस बानाजी लिखते हैं कि ''हर फासीवादी विचारधारा की तार्किक अन्तर्वस्तु राष्ट्रवाद ही होता है। फासीवादी आन्दोलन राष्ट्र पर देवत्व आरोपित करते हैं, ताकि फासीवाद को धर्मनिरपेक्ष धर्म के तौर पर भी स्थापित किया जा सके और वह दैवीकरण की इस प्रक्रिया के शब्दभण्डार (शिल्प तथ्य, मिथक, रस्में और प्रतीक) को धर्म से ही आयातित करके इसे बेहद खूबसूरत ढंग से अंजाम देता है।''[12] दरअसल 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' ठीक वैसे ही है जैसे जर्मन नाजियों का 'नेशनल सोशलिस्ट' था। हिटलर भी अपने आप को सच्चा राष्ट्रवादी कहता

था और आज भारतीय समाज में भी हिटलर के मानसपुत्रों ने राष्ट्र धर्म को पेटेण्ट करा लिया है।

'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की इस पाखण्डवादी राजनीति की सही पड़ताल 'राष्ट्र' की व्याख्या के बुनियादी सवाल से टकराकर ही की जा सकती है। बेण्डिक्ट एंडरसन के अनुसार राष्ट्र एक 'कल्पित समुदाय' है। इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि इस 'कल्पित समुदाय' का बुनियादी तर्क क्या है ? इस तर्क की निर्मिति समुदाय के मूल्यबोध, स्मृति–तन्त्र और भविष्यत कल्पना के अन्तस्सम्बन्ध पर निर्भर करती है। इस सन्दर्भ में डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल की यह टिप्पणी महत्वपूर्ण है कि, 'संचित स्मृतियों को आप कैसे व्याख्यातन्त्र में गूँथते हैं–यह आपकी भविष्यत कल्पना और आपके मूल्यबोध पर निर्भर करता है। आखिरकार औपनिवेशिक उत्पीड़न के साझे अनुभव के ऐतिहासिक संदर्भ से ही सेकुलर राष्ट्रवाद, हिंदू राष्ट्रवाद और पाकिस्तान की विचारधारा के विमर्श विकसित हुए थे। सन्दर्भ साझा था, लेकिन विमर्श की दिशा तय हो रही थी भविष्य कल्पना से।''[13]

साम्प्रदायिक फासिस्ट राजनीति स्मृतितंत्र को नैतिक सवालों से अलगाकर उत्पीड़ित आत्मबोध की रचना करती है। उत्पीड़न की ऐतिहासिक स्मृतियाँ गढ़कर तथा झूठे ऐतिहासिक आख्यान रचकर बाकायदा उत्पीड़न–ग्रन्थि का निर्माण किया जाता है। समाज को 'आत्म' तथा 'अन्य' अस्मिताओं में विभाजित कर 'अन्य' को स्थायी प्रतिपक्ष का दर्जा दे दिया जाता है और किसी भी तरह की ज़िरह और संवाद के सारे रास्ते बंद कर दिये जाते हैं। समाज व राष्ट्र की हर समस्या के लिए 'अन्य' को जिम्मेदार ठहराकर 'आत्म' को यह विश्वास दिलाया जाता है कि उसके नाम पर किया जा रहा हर तरह का आचरण, यहाँ तक कि 'अन्य' का उत्पीड़न भी जायज़ है। 'आत्म' की सामाजिक –सांस्कृतिक अस्मिता के शुद्धिकरण के नाम पर आस्थाओं और भावनाओं की तलवारों द्वारा 'अन्य' के नरसंहार के पवित्र काम को भी अंजाम दिया जाता है। पिछले दिनों घटित गुजरात की घटनाएँ इसी राजनीति की शर्मनाक परिणति हैं। वैरिंगटन मूर ने अपनी पुस्तक 'मॉरल प्यूरिटी ऐंड पर्सिक्यूशन इन हिस्ट्री' में विचारोत्तेजक टिप्पणी की है

कि ''नैतिक शुद्धता की रक्षा का रूप यदि ले ले तो हिंसक आक्रामकता वैध ही नहीं आनन्ददायी भी लगने लगती है।''[14] वस्तुतः फासिस्ट राजनीति मानवीय अस्मिता को रक्ताधारित नस्लपरक अस्मिता–मात्र में ही सीमित कर देती है। अतः स्पष्ट है कि फासिस्ट राजनीति द्वारा निर्मित कल्पित समुदाय का बुनियादी तर्क मूल्याधारित समुदाय के बरक्स रक्ताधारित समुदाय की स्थापना करना ही है।

'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' का मूल तर्क 'नस्ल सिद्धान्त' है। नस्ल के प्रस्थान–बिन्दु से ही सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणा का जन्म होता है, जिसकी तार्किक परिणति सांस्कृतिक और जातीय रूप से विशुद्ध समरूप समुदाय है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद दरअसल 'नस्लवादी हिंदू राष्ट्रवाद' का ही पर्याय है। यहाँ 'हिंदू' शब्द सहज आस्था और धार्मिक जीवन–दृष्टि का नहीं, अपितु नस्ल (रेस) का वाचक है। सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आधारस्तम्भ सावरकर ने भी 'हिन्दू' शब्द के नस्लपरक अर्थ को ही महत्वपूर्ण माना है। उनके अपने शब्दों में ''हिन्दू भारत के नागरिक मात्र नहीं है, क्योंकि वे केवल देश–प्रेम के बंधन से नहीं बल्कि एक ही रक्त के बन्धन से भी बँधे हुए है।'[15] यह महज संयोग नहीं है कि राष्ट्रीयता का एकमात्र या मुख्य आधार 'नस्ल' को मानने वाले सावरकर इस प्रसंग में हर्डर से लेकर हिटलर तक के 'जर्मन राष्ट्रवादी' परम्परा के ही प्रतिनिधि है।

सर्वप्रथम सावरकर ने ही एक अवधारणा के रूप में 'हिन्दुत्व' को व्याख्यायित किया। 'भारतीयता' के बरक्स 'हिन्दुत्व' की इस अवधारणा की पड़ताल करें तो याद आती है, रवीन्द्र नाथ टैगोर की प्रसिद्ध कविता 'भारततीर्थ', जिसमें टैगोर ने भारत की कल्पना 'महामानवसागर' के रूप में की थी– 'एइ भारतेर महामानवेर सागर तीरे'। दरअसल 'भारतीयता' का बुनियादी तर्क ही है– 'विविधताओं का परस्पर समायोजन'। पर इसके ठीक विपरीत 'इकहरा इतिहास, इकहरी संस्कृति, इकहरा धर्म, इकहरा समाज और इकहरा राष्ट्र' यही 'हिन्दुत्व' की परिकल्पना है। असलियत यह है कि भारतीयता को हिन्दुत्व के संकीर्ण दायरे में सीमित करने वाले सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का बहुलतावादी भारतीय समाज और साँझी संस्कृति से कोई सरोकार ही नहीं है। विडम्बना यह भी है कि जिस समाज ने पाकिस्तान और बांग्लादेश का विभाजन अपनी आँखों के सामने होते

देखा है, वहाँ इस खौफनाक सत्य की लगातार अनदेखी की जा रही है कि राष्ट्र को किसी एक धर्म, संस्कृति अथवा जातीय पहचान से जोड़ने वाली कोशिशों से ही विभाजन का दुःस्वप्न साकार होता है।

दुःखद यह भी है कि साम्प्रदायिक राजनीति अब स्कूली बच्चों को पढ़ाई जाने वाली इतिहास की किताबों तक पहुँच गई है। इतिहास साम्प्रदायिक मानस गढ़ने का सबसे कारगर औजार बन गया है। सामाजिक मानस की ऐतिहासिक चेतना को बदलने तथा साम्प्रदायिक राजनीति को सैद्धान्तिक समर्थन व ऐतिहासिक वैधता प्रदान करने के लिए 'इतिहास का तालिबानीकरण' निरन्तर जारी है। हिन्दुत्ववादी राष्ट्रवाद की बुनियाद पर खड़ा सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों का इतिहासबोध, इतिहास को मिथक बनाने पर तुला है। तर्क और प्रमाण के बजाय इतिहास को आस्था और भावना का विषय बना दिया गया है।

इतिहास के साम्प्रदायिक मिथकीकरण की सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों की सोची–समझी परियोजना के निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार के०एन०पणिक्कर का मानना है कि, "इस परियोजना का उद्देश्य है स्वाधीन भारत की शैक्षिक एवं सांस्कृतिक नीतियों के धर्म निरपेक्ष चरित्र को बदलना।"[16] भारतीय शिक्षा पर हिन्दुत्व का एजेण्डा थोपने का यह प्रयास केवल राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिष्द (NCERT) की किताबों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि विश्वविद्यालय अनुदान आयेाग (UGC), भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद (ICHR) तथा भारतीय सामाजिक अनुसंधान परिषद (ICSSR) आदि संस्थानों को भी इस राजनीति का शिकार होना पड़ा है। प्रसंगवश; भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद की स्वतन्त्रता आन्दोलन के अन्तिम दस वर्षों (1937–47) का दस्तावेजी इतिहास प्रस्तुत करने के उद्देश्य से चल रही 'टुवर्डस फ्रीडम' परियोजना के अन्तर्गत प्रकाशित होने वाले दो खण्डों (1940 एवं 1946), जिनके संपादक प्रसिद्ध इतिहासकार के०एन० पणिक्कर और सुमित सरकार हैं, को छापने से रोक दिया गया। बेशक उद्देश्य वही कि राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में संघ परिवार के औपनिवेशिक सत्ता से साठ–गाँठ के तथ्यात्मक साक्ष्यों को जनमानस तक नहीं पहुँचने

दिया जाए। सच पर पहरा लगाने की इन कोशिशों से जाहिर है कि फासिस्ट मनोवृत्ति शिक्षा और इतिहास पर एकाधिकार कर आलोचनात्मक विवेक को अंध–आस्था में तब्दील कर देना चाहती है। जिससे आम आदमी वही जाने और सोचे जो 'वे' चाहते है। सच तो यह है कि दिमाग पर कब्जा कर लेने की यह गहरी चतुराई साम्प्रदायिक फासीवाद के अस्तित्व की बुनियादी शर्त है।

"तर्क नहीं होता
आस्था के प्रश्न पर।
X X X
आँखे नहीं होती आस्था की
कुछ भी कर सकती है
X X X
तर्क को सैकड़ों फुट नीचे
दफ्न कर सकती है आस्था,
इतिहास की कपाल क्रिया पर
अपने तथ्य खुद गढ़ सकती है।
X X X
रहना चाहते हो यदि इस मुल्क में
तो आस्थावान बनो।
महान पूर्वजों के वारिस
महान बनो।"[17]

कात्यायनी (आस्था का प्रश्न)

साम्प्रदायिक तर्कपद्धति गढ़े गए ऐतिहासिक आख्यानों, सांस्कृतिक स्मृतियों, दंतकथाओं और मिथकों की अपनी सुविधानुसार मनमानी व्याख्या करती है। सामाजिक मानस की निर्मिति में आख्यानों, स्मृतियों, दंतकथाओं और मिथकों की महत्वपूर्ण भूमिका है, जिनकी व्याख्याएँ जाने–अनजाने सामाजिक मानस के अवचेतन में समा जाती हैं। ठीक यही सैद्धान्तिकी हिटलर के प्रचार मंत्री गोयबल्स की भी थी कि एक झूठ को अगर सौ बार बोला जाए तो वह सच बन जाता है। इसी विचारपद्धति द्वारा समाज में इस तरह के

'स्टीरियोटाइप' मिथक गढ़े जाते हैं कि 'हर मुसलमान क्रिकेट की टीम पैदा करता है और हर हिन्दू शतरंज की टीम'। दरअसल साम्प्रदायिक विचार–पद्धति 'अन्य' की रूढ़िबद्ध छवियाँ गढ़कर 'आत्म' की हिंसा, प्रतिशोध और घृणा को न्यायोचित ठहराती है और यहाँ तक कि 'बलात्कार' भी एक नैतिक कर्तव्य और मनुष्य के सम्मान के प्रतीक के रूप में तब्दील हो जाता है।

सामाजिक मानस की निर्मिति में मीडिया की भी अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है। साम्प्रदायिक विचार–पद्धति मीडिया के दुरूपयोग द्वारा लोकमानस के सामाजिक संस्कार को विकृत करने का उपक्रम लगातार करती रहती है। साम्प्रदायिकता और मीडिया के सम्बन्धों के सन्दर्भ में वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी का विचार है कि ''त्रासद संयोग देखिए कि इलेक्ट्रानिक मीडिया उस समय उभरा है जब भारत में हिन्दुत्व का ज्वार शुरू हुआ। यह भी सम्भव है कि दोनों परस्पर पूरक के रूप में सामने आए।''[18] साम्प्रदायिक ताकतें मीडिया का जाने–अनजाने सहारा लेकर अपना सामाजिक आधार बढ़ाती रहती है। प्रसंगवश; पिछले दिनों अरविन्द राजगोपाल की चर्चित पुस्तक 'पालिटिक्स आफ्टर टेलीविजन' में राजनीति , टेलीविजन, हिंदू, राष्ट्रवाद तथा जनता का पुनर्संरचनाकरण आदि मुद्दों को केन्द्र में रखकर नवें दशक में शुरू हुए मेगा धार्मिक टी वी धारावाहिकों, अयोध्या आन्दोलन, आडवाणी की रथयात्रा और जनता के बदलते रूप के अन्तर–सम्बन्धों की पड़ताल की गई। बुनियादी निष्कर्ष यही थे कि बाजार और मीडिया के उपयोगिताकरण और प्रचार व संघटनीकरण ने हिंदू राष्ट्रवादी अस्मिता की पुनर्परिभाषा के संकेत दिए हैं।

अन्ततः, साम्प्रदायिकता के मूल चरित्र की पड़ताल में साम्प्रदायिक फासीवाद के अंधेरों से उपजे सवालों से टकराकर हम इस दुःखद, लेकिन भयावह सच तक तो पहुँचते ही हैं कि साम्प्रदायिक फासीवाद अब एक किताबी लफ़्ज न होकर वर्तमान समाज की डरावनी वास्तविकता बन गया है। बेशक अन्धेरा काफी घना है, लेकिन इन घने अन्धेरों से ही गुजरकर हमें एक बेहतर भविष्य के उजाले की किरण की तलाश करनी है। ब्रेष्ट ने ऐसे ही किसी क्षण में कहा था–

''क्या अँधेरे वक्त में भी
गीत गाए जाएँगे ?
हाँ, अँधेरे के बारे में भी
गीत गाए जाएँगे।''

ब्रेष्ट [19]

यह जरूर है कि आने वाला कल कैसा होगा; इसका दारोमदार इस बात पर निर्भर करेगा कि साम्प्रदायिकता के विरूद्ध सार्थक हस्तक्षेप की प्रक्रिया में हमारे प्रतिरोध का मुहावरा आखिर क्या होगा ?

बहरहाल, उम्मीद तो है ही ...!

(2) ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य :

'हाजिर है
गुजरा वह लम्हा
जो मुड़–मुड़ कर देख रहा है
लौटती हुई सिहरन को।''

गुलाम मोहम्मद शेख

इतिहास को समग्रता में देखने के बजाय चुनिंदा दृष्टि अपनाकर साम्प्रदायिक राजनीति इतिहास की मनोनुकूल और मनमानी व्याख्या के जरिए सामाजिक मानस की ऐतिहासिक चेतना और आलोचनात्मक विवेक को रूढ़िबद्ध मिथक और अंध–आस्था में तब्दील कर स्वयं को ऐतिहासिक वैधता और सैद्धान्तिक समर्थन प्रदान करने की कोशिश करती है। चयनकारी रवैये की 'अनचाहे को गोल कर, मनचाहे को तूल दे' वाली इस राजनीति को समझने के सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार ई० एच० कार की यह टिप्पणी गौरतलब है कि ''तथ्य अलौकिक, पवित्र नहीं है क्योंकि हम तथ्यों को अपनी इच्छा के अनुसार चुनते हैं।''[20]

ब्रिटिश इतिहासकारों की साम्राज्यवादी धारा ने औपनिवेशिक शासन की 'बाँटो और राज्य करो' नीति के तहत इतिहास का साम्प्रदायिकीकरण किया। जेम्स मिल, वी० ए०स्मिथ, इलियट तथा डाउसन आदि साम्राज्यवादी इतिहासकारों द्वारा की गई भारतीय इतिहास की व्याख्याओं ने साम्प्रदायिक मतवादों को जन्म दिया। जेम्स मिल ने 1817 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ इंडिया' में भारतीय इतिहास को तीन कालों में वर्गीकृत किया–हिन्दू काल, मुस्लिमकाल और ब्रिटिश काल। जेम्स मिल ने एक ओर जहाँ भारतीय इतिहास के प्राचीन काल और मध्य काल का धार्मिक वर्गीकरण कर साम्प्रदायिक इतिहास–लेखन का बीज बोया; वहीं दूसरी ओर, औपनिवेशिक काल को

धार्मिक वर्गीकरण के बजाय राष्ट्रीयता के आधार पर 'ब्रिटिश काल' कहकर साम्राज्यवादी शासन का औचित्य सिद्ध करने का भी प्रयास किया। वी०ए०स्मिथ का भारत के सन्दर्भ में यह दुराग्रहपूर्ण दृष्टिकोण रहा कि भारतीय अपना शासन खुद चलाने के योग्य नहीं हैं। इलियट और डाउसन ने फारसी से चुनिंदा स्रोतों का अनुवाद कर अत्यन्त विकृत ढंग से तथ्यों को तोड़–मरोड़ कर पेश करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच शाश्वत बैर है।

इतिहास के साम्प्रदायिकीकरण के सन्दर्भ में एक दुर्भाग्यपूर्ण पहलू यह भी रहा कि कुछ राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने भी मध्यकालीन इतिहास की धार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की। एक ओर जहाँ आइ०एच०कुरैशी ने दिल्ली सल्तनत को 'मुस्लिम साम्राज्य' कहा और मुगल साम्राज्य के समूचे राजनीतिक इतिहास को इस्लामी धर्मपरायणता तथा विधर्मिता के बीच साम्राज्य पर वर्चस्व के संघर्ष के रूप में देखा, वहीं दूसरी ओर आर०सी०मजूमदार ने मुगल शासन के प्रति राजपूतों और मराठों के विद्रोहों को 'मुस्लिम प्रभुत्व के विरूद्ध हिन्दू प्रतिरोध' कहा। कुरैशी और मजूमदार, दोनों ने ही हिन्दू और मुसलमानों के बीच अलगाव पर जोर दिया और इस बात से इन्कार किया कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई सामान्य भावभूमि थी। इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध इतिहासकार इरफान हबीब का मत है कि ''दोनों ही 'साम्प्रदायिक मतवाद' मध्यकालीन इतिहास की अनिवार्यतः एक जैसी व्याख्या करते हुए एक जैसी भाषा भी बोलते हैं। नाटक वही है, केवल पात्र, जिनके साथ वे अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं, भिन्न होते हैं।'[21] दरअसल कुरैशी और मजूमदार दोनों ही साम्राज्यवादी इतिहासकारों की बुनियादी अवधारणाओं का ही विस्तार करते हुए साम्प्रदायिक इतिहास लेखन को बढ़ावा देते हैं। यह महज संयोग नहीं है कि एक–दूसरे के प्रति प्रत्यक्ष विरोध भाव के बावजूद, दोनों ही मतों की व्याख्याएँ प्रायः सभी बिन्दुओं पर एक हो जाती है।

मध्यकालीन इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या ने मध्यकाल की एकांगी, रूढ़िबद्ध और भ्रामक स्टीरियोटाइप छवि प्रस्तुत की, जिसके अनुसार सम्पूर्ण मध्यकाल हिन्दू–मुस्लिम वैमनस्य का काल था। जबकि वास्तविकता यह है कि मध्यकालीन

भारतीय समाज में समन्वय और संघर्ष दोनों का ही द्वन्द्व विद्यमान था। मध्यकालीन समाज के इस जटिल अंतस्सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि "मध्यकालीन भारत में अतंर्विरोध का वास्तविक सार भले ही गैर–धार्मिक रहा हो, लेकिन उसका एक पहलू वर्चस्व का संघर्ष भी जरूर था। वर्चस्व का यह संघर्ष तत्कालीन आत्मबोध 'हिन्दू' और 'मुसलमान' से सर्वथा निर्लिप्त नहीं था। 'आपस में दोऊ लड़त मरत हैं, मरम न काहू जाना' कहने वाले कबीर का समकालीन समाज, जाहिर है कि, ऐसा समाज था जिसमें लोग अन्य पहचानों के अलावा बगैर हिन्दू और बतौर मुसलमान के भी आपस में लड़ते थे।"[22] दरअसल यह सच्चाई गौरतलब है कि मध्यकालीन गंगा–जमुनी तहजीब की साझी विरासत में हिन्दू–मुस्लिम के इस वर्चस्व–संघर्ष ने एक फाँक बो रखी थी। यह जरूर है कि मध्यकाल में औपनिवेशिक समाज अथवा आधुनिक समाज के मुहावरें की साम्प्रदायिकता नहीं थी।

औपनिवेशिक शासन ने हिन्दू–मुस्लिम वर्चस्व–संघर्ष की फाँक को और गहरा करते हुए या यूँ कहें कि फाँक को खाई में बदलते हुए इसे साम्प्रदायिकता के आधुनिक मुहावरे में तब्दील कर दिया। औपनिवेशिक शासन के इसी चरित्र की ओर इशारा करते हुए पं०नेहरू ने लिखा है कि "यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए कि भारत में साम्प्रदायिकता एक परवर्ती (बाद की) परिघटना है जिसका जन्म हमारी आँखों के सामने ही हुआ है।"[23]

ब्रिटिश औपनिवेशिक साम्राज्य के उदय के परिणामस्वरूप भारतीय समाज की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक संरचना में आमूल–चूल परिवर्तन हुए। इसके चलते ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई जिन्होंने समाज के भीतर आंतरिक विभाजन को बढ़ावा दिया तथा साम्प्रदायिकता के लिए उर्वर जमीन तैयार की। औपनिवेशिक शोषण के चलते एक ओर परम्परागत भारतीय हस्तशिल्प, दस्तकारी तथा लघु–कुटीर उद्योग तबाह हो गए और दूसरी ओर कृषि का विकास भी अवरूद्ध हो गया। इस देशव्यापी आर्थिक ठहराव के चलते बेरोजगारी एक विकट समस्या के रूप में उभरी । विशेष तौर से शिक्षित मध्य–वर्ग तथा निम्न मध्य–वर्ग के लिए सरकारी नौकरी रोजगार का एकमात्र

आसरा रह गई। नतीजतन सीमित सरकारी नौकरियों के लिए अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा शुरू हो गई। व्यक्तियों के बीच सरकारी नौकरियों की यह मारामारी विकृत रूप में दो समुदायों के बीच टकराव में तब्दील हो गई। ब्रिटिश प्रशासकों ने इन परिस्थितियों को औपनिवेशिक सत्ता के लिए अनुकूल जानकर हिन्दू तथा मुस्लिम वर्ग को एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी के रूप में खड़ा कर दिया और उनके सामाजिक–आर्थिक अन्तर्विरोधों तथा टकराव को साम्प्रदायिक रंग दे दिया। भाषा–विवाद तथा नागरी प्रस्ताव आदि मुद्दों ने आग में घी का काम किया। दरअसल सरकारी नौकरियों की प्रतिस्पर्धा में हिन्दू तथा मुस्लिम समुदाय के सीमित वर्गों हिस्सों की ही भागीदारी थी लेकिन इन वर्गों ने अपने वैयक्तिक हितों को ही समस्त समुदाय के हितों के तौर पर पेश किया जो साम्प्रदायिक राजनीति का चिरपरिचित मुहावरा है।

औपनिवेशिक सत्ता स्थापित होने के बाद हिन्दू–मुस्लिम समुदायों के अभिजात्य वर्गों व शिक्षित मध्य–वर्गों के बीच राजनीतिक–आर्थिक समीकरण तेजी से बदले। इस नई स्थिति में राजनीतिक सत्ता में सीमित हिस्सेदारी (विधायिकाओं और नगरपालिकाओं में प्रवेश) को लेकर दोनों समुदायों के अभिजात्य वर्गों के बीच टकराव शुरू हुए। 1883 में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में जब पहली बार स्वशासन बिल प्रस्तुत किया गया तो सर सैय्यद अहमद ने इसका विरोध किया। इस विरोध का आधार दो सम्प्रदायों के बीच नगरपालिकाओं में सीटों की संस्था के आवंटन को लेकर था। बदली हुई परिस्थितियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि हिंदू अभिजात्य व शिक्षित मध्यवर्ग ने आधुनिक शिक्षा, सरकारी सेवाओं, नए व्यवसायों और उद्योगों के प्रति सकारात्मक प्रतिक्रिया दिखाई, वहीं दूसरी ओर मुस्लिम अभिजात्य वर्ग ने इन सामाजिक–आर्थिक बदलावों के सन्दर्भ में प्रतिक्रियावादी रूख अपनाया। लगभग एक पीढ़ी के बाद जाकर ही मुस्लिम समुदाय ने इन परिवर्तनों के सन्दर्भ में सकारात्मक रूख प्रदर्शित किया। इसके परिणामस्वरूप हिन्दू समुदाय की अपेक्षा मुस्लिम समुदाय में मध्यवर्ग का उदय भी देरी से हुआ, साथ ही पुरानी परम्पराओं और मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन के लिए बौद्धिक जागरण भी देर से हुआ। भारतीय समाज में इन परिवर्तनों

को राजाराम मोहन राय और सर सैय्यद अहमद खाँ के बीच के अंतराल के माध्यम से देखा जा सकता है। इन परिवर्तनों के सन्दर्भ में जवाहरलाल नेहरू का यह कथन महत्वपूर्ण है कि ''हिन्दू और मुसलमान मध्य वर्गों के विकास में एक पीढ़ी या इससे कुछ अधिक समय का अन्तर रहा है और यह अन्तर आज भी अनेक राजनीतिक, आर्थिक और दूसरी दिशाओं में दिखाई दे रहा है। यही वह पिछड़ापन है जो मुसलमानों में भय की मानसिकता पैदा करता है।''[24]

साम्प्रदायिकता के उदय और विकास में ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और राज करो' नीति की महत्वपूर्ण भूमिका रही। गौरतलब है कि भारतीय समाज की मौजूदा राजनीतिक –साामाजिक परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल थीं। औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक विभेदों और राजनीतिक–सामाजिक अन्तर्विरोधों को प्रोत्साहित किया। समाज को धार्मिक आधार पर विभाजित कर साम्प्रदायिक नेताओं और संगठनों को अपने समुदायों के प्रामाणिक प्रवक्ता के रूप में स्वीकृति प्रदान की गई। साम्प्रदायिक तत्वों की राजनीतिक–सामाजिक जमीन मजबूत करने के लिए तमाम साम्प्रदायिक माँगें मंजूर कर ली गईं। 1909 में पृथक मतदाता मण्डल तथा 1932 में साम्प्रदायिक पंचाट (कम्युनल अवार्ड) के जरिए साम्प्रदायिक माँगों को सरकारी स्वीकृति प्रदान की गई। लेकिन इससे भी ज्यादा खतरनाक पहलू यह रहा कि समाज में व्यक्ति की पहचान एक भारतीय के रूप में होने के बजाय उसके जन्मजात समुदाय के संकीर्ण दायरे में सीमित कर दी गई।

'फूट डालो और राज करो' नीति का सारतत्व औपनिवेशिक सत्ता के विरूद्ध हिन्दू–मुस्लिम समुदाय के संयुक्त प्रतिरोध के उभार को रोकना था, क्योंकि 1857 के विद्रोह की शक्ति हिन्दू–मुस्लिम एकता में ही निहित थी। 1857 के विद्रोह के बाद औपनिवेशिक शासन ने इस नीति पर तेजी से अमल किया, ताकि भविष्य में इस प्रकार की किसी भी एकता की सम्भावना को समाप्त किया जा सके। औपनिवेशिक शासन ने 1857 के विद्रोह के लिए मुस्लिम समुदाय को मुख्य रूप से उत्तरदायी ठहराते हुए उसके प्रति दमनकारी रूख अपनाया। अकेले दिल्ली में ही 27000 मुसलमान फाँसी से

लटका दिए गए और उन्हें लगातार शंका की दृष्टि सें देखा जाता रहा। लेकिन आगे चलकर राष्ट्रवादी आन्दोलन के उदय और विशेषकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना (1885) के बाद, इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। उभरते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलन में निहित एकता को कमजोर करने के लिए औपनिवेशिक शासन ने एक ओर स्वयं को मुसलमानों के मसीहा के रूप में पेश किया और दूसरी ओर कांग्रेस को 'हिन्दूपार्टी' करार देकर अभिजात्य मुस्लिम वर्ग को अपनी तरफ खींचने की नीति अपनाई। औपनिवेशिक सत्ता के दृष्टिकोण में आए इस परिवर्तन के निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए सर जॉन स्ट्रैची ने लिखा है कि "मुसलमानों का अभिजात्य वर्ग हमारी कमजोरी का नहीं बल्कि शक्ति का स्रोत्र है। यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से ये बहुत कम हैं लेकिन आबादी के बहुत ऊर्जाशील अल्पसंख्यक है और इनके राजनीतिक हित हमारे हितों से पूरी तरह मेल खाते हैं।"[25]

मुस्लिम अभिजात्य वर्ग के अग्रगण्य नेतृत्वकर्ता सर सैय्यद अहमद खाँ, जो अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ में हिन्दू–मुस्लिम एकता के कट्टर समर्थक थे, कालान्तर में औपनिवेशिक सत्ता के प्रभाव में आकर उभरते हुए राष्ट्रवादी आन्दोलन और लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं और संस्थाओं की स्थापना के विरोधी बन गए। सर सैय्यद अहमद ने एक ओर सरकारी नौकरियों, विधायिकाओं में धार्मिक आधार पर आरक्षण की माँग की और दूसरी ओर मुस्लिम समुदाय को राष्ट्रवादी आन्दोलन से दूर रहने व औपनिवेशिक शासन का विरोध करने के बजाय सहयोग करने की सलाह दी। दरअसल सर सैय्यद अहमद खाँ ने सिर्फ अभिजात्य मुस्लिम वर्ग के संकीर्ण हितों का ही प्रतिनिधित्व किया, जिसका आम मुसलमानों की आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं था। यही कारण था कि सर सैय्यद अहमद के अलीगढ़ आन्दोलन के बरक्स अहरार आन्दोलन और देवबंद मदरसे के जरिए आम मुसलमानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी की। लेकिन यह जरूर दुर्भाग्यपूर्ण था कि सर सैय्यद अहमद खाँ की विचारधारा ने साम्प्रदायिक राजनीति की जमीन को मजबूती प्रदान की, जिसकी स्वाभाविक परिणति आगे चलकर 1906 में ढाका में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना के रूप में हुई।

उन्नीसवीं सदी के नवजागरण और धार्मिक–सामाजिक सुधार आन्दोलनों के जरिए भारतीय अस्मिता की खोज और भारतीय संस्कृति और इतिहास की पुनर्व्याख्या का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। लेकिन विडम्बना यह थी कि नवजागरण की वर्चस्वशील धारा (बंकिम चन्द्र चटर्जी, दयानन्द सरस्वती...) औपनिवेशिक सत्ता के प्रति हीनता–ग्रन्थि और अपने समाज के प्रति आत्ममुग्धता के चलते उपनिवेशवादी प्रतिमानों पर ही, सुदूर अतीत में अपनी जड़ों की तलाश करने लगी। इस अतीतोन्मुखी पुनरूत्थानवादी धारा नें एक ओर तो द्वंद्व–प्रतिवाद से रहित भारतीयता की इकहरी धारणा प्रस्तुत की और दूसरी ओर, भारतीय संस्कृति और इतिहास को मनमाने ढंग से गढ़े गए शक्ति–संघर्ष से रहित इकहरे अतीत के संकीर्ण दायरे में सीमित कर दिया। 'आत्मबोध की तलाश' और 'भारत की खोज' की इस बौद्धिक प्रक्रिया के वास्तविक निहितार्थों को स्पष्ट करते हुए डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि "इसके अन्तर्गत भारतीय अस्मिता को, एक तो हिन्दू तक सीमित कर दिया जाता है, दूसरे 'अस्मिता'की ऐसी इकहरी धारणा प्रस्तुत की जाती है, जिसमें हमारे समाज में मौजूद विभिन्न पहचानों के संघर्ष, उनकी समस्याएँ और अनुभव–सब गायब हो जाते हैं। भारतीय परम्परा, संस्कृति, धर्म, मिथक–कुल मिलाकर ये सब एक आक्रामक सर्वसत्तावाद की संस्कृतिहीनता को ही भारतीय संस्कृति की सामाजिक परिणति मनवाने के लिए इस्तेमाल हो सकने वाली जिंस में बदल जाते हैं।"[26]

अतीतोन्मुखी पुनरूत्थानवादी धारा ने एक ओर भारतीय संस्कृति को 'विशुद्ध संस्कृति' के रूप में व्याख्यायित कर उसे वैदिक संस्कृति या हिंदू संस्कृति का पर्याय मान लिया; वहीं दूसरी ओर, तमाम अवैदिक संस्कृतियों (बौद्ध, इस्लाम ..), लोकधर्मी भक्ति–संवेदना और सूफी आन्दोलन को दर किनार कर दिया। ठीक इसी तर्ज पर इसने, एक ओर प्राचीन काल को द्वंद्व–प्रतिवाद से रहित 'स्वर्ण युग' के रूप में परिकल्पित किया; वहीं दूसरी ओर, मध्यकाल को 'अंधकार युग' के रूप में चित्रित किया। भारत के स्वर्णिम अतीत के पतन और तत्कालीन समाज की सारी विसंगतियों और विडम्बनाओं के लिए 'अन्य' (म्लेच्छ, यवन,तुर्क...) को जिम्मेदार ठहरा दिया गया।

साथ ही इतिहास की धार्मिक व्याख्या के जरिए 'अन्य' को स्थायी प्रतिपक्ष का दर्जा देकर, अन्ततः पुनरूत्थानवादी धारा ने साम्प्रदायिक चरित्र ग्रहण कर लिया।

हिन्दू पुनरूत्थानवादी धारा की प्रतिक्रिया स्वरूप मुस्लिम संप्रदायवादी 'इस्लामी', 'अरबी' या 'तुर्की' उपलब्धियों के 'स्वर्णयुग' में अपने जड़ों की तलाश करने लगे। उनके नायक, सांस्कृतिक परम्पराएँ और मिथक भारत की बजाय पश्चिमी एशिया के मध्ययुगीन इतिहास के होते थे। उन्होंने अपने को 'सर्वइस्लामवाद' की अवधारणा से भी जोड़ने का प्रयास किया, जिसका लक्ष्य एक ओर विश्व स्तर पर पश्चिमी शक्तियों से 'मुस्लिम हितों' की रक्षा करना था; और दूसरी ओर, इस्लाम और 'मुस्लिम जनों' के विगत गौरव को लौटाना भी था। लेकिन विडम्बना यह रही कि विश्व स्तर पर ब्रिटिश–विरोधी होने के बावजूद 'सर्वइस्लामवाद', खिलाफत आन्दोलन को छोड़कर, भारतीय सन्दर्भ में सामान्यतः साम्राज्यवाद–विरोधी नहीं रहा। बल्कि; यह जरूर रहा कि इसने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में रहने वाले विभिन्न संस्कृतियों के और विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले मुसलमानों में एक सम्प्रदाय के सदस्य होने की भावना विकसित की। परिणामस्वरूप, साम्प्रदायिक तत्त्वों के लिए एक आधारभूमि तैयार हुई, जिसका इस्तेमाल सर सैय्यद अहमद और आगे चलकर मुस्लिम लीग ने अपनी साम्प्रदायिक राजनीति के लिए किया और साम्प्रदायिकता के उभार में अहम भूमिका निभाई।

TH-11617

राष्ट्रीय आन्दोलन में धार्मिक मिथकों–मुहावरों के प्रयोगों (शिवाजी उत्सव, गणपति उत्सव आदि) तथा गो–वध विरोधी आन्दोलन और उसके परिणामस्वरूप, भड़के साम्प्रदायिक दंगो के जरिए भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता को पनपने का अवसर मिला। साथ ही मुस्लिम लीग (1907) और उसकी प्रतिक्रियास्वरूप स्थापित संगठनों–पंजाब हिन्दू सभा (1909) तथा अखिल भारतीय हिन्दू महासभा (1915) के माध्यम से साम्प्रदायिकता को राजनीतिक अभिव्यक्ति मिली। औपनिवेशिक शासन ने उभरते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने और समाज में धार्मिक विभाजन पैदा करने के उद्देश्य से बंग–विभाजन (1905) का निर्णय लिया और आगे चलकर मार्ले–मिण्टो सुधारों (1909) व मांटेग्यू–चेम्सफोर्ड सुधारों (1919) के तहत पृथक्

मतदाता–मण्डल व उसके विस्तार के निर्णयों के द्वारा साम्प्रदायिकता को संस्थागत–संरचनात्मक स्वरूप देने की कोशिश की।

यह जरूर रहा कि कांग्रेस–लीग के लखनऊ समझौते (1916) और खिलाफत–असहयोग आन्दोलनों (1920–22) के जरिए राष्ट्रीय आन्दोलन में हिन्दू–मुस्लिम एकता की अभूतपूर्व भावना प्रदर्शित हुई। लेकिन इसमें गहरे अन्तर्विरोध भी विद्यमान थे। लखनऊ समझौते के तहत कांग्रेस द्वारा मुस्लिम लीग की पृथक् मतदाता–मंडल की सांप्रदायिक माँग को मान लेने से एक ओर इस धारणा को मजबूती मिली कि मुस्लिम समुदाय के हित अलग हैं; और दूसरी ओर, मुस्लिम लीग की सांप्रदायिक राजनीति को वैधता भी मिली। साथ ही खिलाफत आन्दोलन के जरिए धार्मिक चेतना के राजनीति में प्रवेश से राजनीतिक सवालों को धार्मिक नजरिए से देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई, जिससे कालान्तर में साम्प्रदायिक तत्त्वों को मजबूती मिली।

Jawaharlal Nehru Library

असहयोग आन्दोलन के अचानक स्थगित कर दिए जाने से जनमानस में व्यापक निराशा गहराने लगी। अवसाद के इस दौर में साम्प्रदायिकता को तेजी से उभरने का अवसर मिला। इसी दौर में संगठन–शुद्धि बनाम तंजीम (संगठन)–तबलीग (प्रचार) आन्दोलनों ने हिन्दू–मुस्लिम समुदायों में एक–दूसरे के प्रति अविश्वास, सन्देह और भय का वातावरण निर्मित किया और साम्प्रदायिक दंगो की अन्तहीन श्रृंखला प्रारम्भ हुई। साइमन कमीशन के अनुसार 1922 से 1927 के बीच 112 बड़े साम्प्रदायिक दंगे हुए। साम्प्रदायिकता का राजनीतिक–सामाजिक आधार अब तेजी से व्यापक होने लगा। हिन्दू महासभा और मुस्लिम लीग की आपसी प्रतिद्वन्दिता ने साम्प्रदायिक राजनीति को औचित्य और समर्थन प्रदान किया। यह गहरी विडम्बना रही कि राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ प्रभावी नेता–लाजपत राय, मदनमोहन मालवीय, मुहम्मद अली, शौकत अली तथा मुहम्मद अली जिन्ना आदि भी साम्प्रदायिक राजनीति की ओर मुड़ गए। साथ ही, राष्ट्रीय आन्दोलन की नेतृत्वकर्ता कांग्रेस अपनी मध्यस्थता तथा समझौते के ढुलमुल रवैये की नीति के चलते साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिए एक समग्र नीति बनाने में असफल रही। इसके बावजूद कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट (1928) के जरिए साम्प्रदायिक मुद्दों को सुलझाने

की कोशिश की। लेकिन जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट को 'हिंदू हितों का दस्तावेज' करार देते हुए 'चौदह सूत्री कार्यक्रम' (1929) पेश किया, जो जिन्ना की आगे की साम्प्रदायिक राजनीति का आधार–बिन्दु साबित हुआ।

साम्प्रदायिक पंचाट (कम्युनल अवार्ड)– 1932 की घोषणा के जरिए औपनिवेशिक शासन द्वारा मुसलमानों, सिक्खों, ईसाईयों और दलितों के लिए पृथक् निर्वाचन–मण्डल के निर्णय ने विभिन्न समुदायों के बीच आपसी दरार को और गहरा किया। पृथक् निर्वाचन–मण्डल के तहत 1937 के आरम्भ में चुनाव हुए, लेकिन चुनाव परिणाम मुस्लिम लीग के लिए काफी निराशाजनक रहे। पृथक् मतदाता–मंडलों की व्याख्या के तहत मुसलमानों को आवण्टित 482 सीटों में से 109 पर ही लीग विजयी हो सकी और उसे कुल मुस्लिम वोटों का सिर्फ 4.8% मत मिला। हिंदू महासभा की हालत तो और भी खराब रही। इन चुनाव परिणामों से साम्प्रदायिक संगठनों पर अस्तित्व का खतरा मँडराने लगा।

मुस्लिम लीग ने राजनीतिक स्तर पर जिंदा रहने के लिए भय और घृणा पर आधारित आक्रामक साम्प्रदायिक राजनीतिक प्रारम्भ की। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों में हिन्दू वर्चस्व का भय पैदा किया और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को 'हिन्दू राज्य का प्रतिनिधि' और 'मुस्लिम–अल्पसंख्यक विरोधी' करार दिया। राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं–अबुल कलाम आजाद, खान अब्दुलगफ्फार खान आदि को इस्लाम का गद्दार करार देकर उनके विरूद्ध दुष्प्रचार अभियान चलाया गया। लीग ने सम्पूर्ण मुस्लिम समुदाय की प्रतिनिधि संस्था होने का दावा करते हुए मुसलमानों के लिए एक पृथक् राष्ट्र की माँग की। मुहम्मद इकबाल और रहमत अली की परिकल्पना को आगे बढ़ाते हुए मुहम्मद अली जिन्ना ने मार्च–1940 में लीग के लाहौर अधिवेशन में 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' पेश किया, जिसके अनुसार हिन्दू और मुसलमान ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक रूप से दो भिन्न इकाई हैं, इसलिए वे दो अलग–अलग राष्ट्र है। 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' के तर्क पर मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए एक अलग स्वायत्त राष्ट्र 'पाकिस्तान' की माँग की, जिसने भारत के विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

मुस्लिम लीग के समानान्तर हिन्दू महासभा के जरिए हिंदू साम्प्रदायिकता ने अपने पाँव पसारे। विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू पुनरूत्थानवाद को एक सैद्धान्तिक व विचारधारात्मक आधार प्रदान करते हुए 'हिन्दुत्व' की अवधारणा प्रस्तुत की। 1923 में प्रकाशित 'हिन्दुत्व–हू इज ए हिन्दू' नामक पुस्तक में सावरकर ने नस्लवादी प्रस्थान–बिन्दु पर हिन्दू राष्ट्र की परिकल्पना की। उनके अपने शब्दों में, ''हिन्दू आपस में सिर्फ इसलिए नहीं जुड़े हुए हैं क्योंकि वे समान पैतृक भूमि के लिए लगाव रखते हैं। .... हम एक है क्योंकि हम एक राष्ट्र हैं, एक नस्ल हैं तथा एक ही सभ्यता की सन्तति हैं।''[27] दरअसल जिन्ना के 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' को सावरकर पूर्व में ही पेश कर चुके थे। सावरकर ने यह तर्क दिया कि गैर–हिन्दू , भले ही वे भारत में पैदा हुए हों तथा पले–बढ़े हों, इस राष्ट्र का हिस्सा नहीं हो सकते हैं।

बहरहाल, रक्त–नस्लपरक राष्ट्रवाद की संकल्पना को मूर्त रूप देने की कोशिशें राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने की, जो आज भी जारी हैं। 1925 में डा० केशव बलिराम हेडगेवार द्वारा स्थापित राष्ट्रीय स्वयं संघ ने 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है' का नारा दिया। शुद्ध रक्त और नस्ल पर आधारित यह राष्ट्रवाद अपने देश के अल्पसंख्यक समूहों के प्रति उतना ही असहिष्णु है, जितना कि यहूदियों के प्रति हिटलर का नाजीवाद। चर्चित और विवादित पुस्तक 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइंड' (1939) में संघ के द्वितीय सरसंघचालक माधवराव सदाशिवराव गोलवरकर ने मुसलमानों तथा अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को सलाह दी कि ''हिन्दुस्तान के गैर–हिन्दू लोगों को या तो हिन्दू संस्कृति और भाषा अपनानी होगी, हिन्दू धर्म का सम्मान करना सीखना होगा और हिन्दू जाति की श्रेष्ठता स्वीकार करनी होगी या फिर हिन्दू राष्ट्र के अधीन होकर रहना होगा और विशेषाधिकारों की तो बात ही दरकिनार, नागरिक के सामान्य अधिकारों से भी वंचित रहना होगा।''[28]

मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि संगठनों की घृणा–भय आधारित इस साम्प्रदायिक राजनीति के चलते 1940 के दशक में साम्प्रदायिकता का ज्वार अपने उफान पर था। द्वितीय विश्वयुद्ध के चलते गहरे दबाव में

फँसी और भारत छोड़ो आन्दोलन में आम जनता की स्वतःस्फूर्त व्यापक भागीदारी से विचलित, औपनिवेशिक सरकार ने, स्वतन्त्रता की अखिल भारतीय माँग को कमजोर करने के लिए साम्प्रदायिक संगठनों को संरक्षण–सहयोग देकर उनका भरपूर इस्तेमाल किया। यह दिलचस्प तथ्य है कि हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोध और औपनिवेशिक सत्ता के सहयोग के लिए एक–दूसरे से भी हाथ मिलने में संकोच नहीं किया। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, पंजाब, सिन्ध और बंगाल में हिन्दू संप्रदायवादियों ने कांग्रेस के विरोध में मुस्लिम लीग तथा दूसरे साम्प्रदायिक संगठनों का मन्त्रिमण्डल बनवाने में सहायता की। यह महज संयोग नहीं कि हिन्दू महासभा के नेता और आगे चलकर जनसंघ के संस्थापक बने डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी 1942–43 के दौरान बंगाल की फ़जलुल हक़ की सरकार में वित्तमन्त्री थे।

साम्प्रदायिक संगठनों की हठधर्मिता और इनके प्रति औपनिवेशिक सरकार के पक्षपातपूर्ण रवैये के चलते राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी मुख्य प्रतिनिधि कांग्रेस साम्प्रदायिकता के इस ज्वार को रोक पाने में अक्षम साबित हुए। 1946 के चुनावों में 90 प्रतिशत मुस्लिम सीटों पर लीग की विजय ने कांग्रेस की विफलता साबित कर दी। मुस्लिम लीग की 'सीधी कार्यवाही' घोषणा (16 अगस्त 1946) से पाकिस्तान का मामला सड़कों पर आ गया। इसकी त्रासद परिणति कलकत्ता, नोआखाली, रावलपिण्डी, गढ़मुक्तेश्वर और बिहार आदि में भड़के भयावह साम्प्रदायिक दंगों के रूप में हुई। साम्प्रदायिक दंगों की इस अन्तहीन श्रृंखला ने देश को गृहयुद्ध के कगार पर ला खड़ा किया। विभाजन के अलावा कोई विकल्प शेष नहीं रहा। परिणामस्वरूप 'मन–बाटन योजना' (माउण्टबेटन योजना–3 जून 1947) द्वारा भारत–विभाजन और भारत–पाकिस्तान की स्वाधीनता की घोषणा हुई। अन्ततः 15 अगस्त 1947 को स्वतन्त्र भारत का उदय हुआ, लेकिन इसमें त्रासद विभाजन की उदासी का ग्रहण लगा हुआ था। चिर–प्रतीक्षित आजादी की कीमत भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के रूप में चुकानी पड़ी। यह अत्यन्त विडम्बनात्मक है कि स्वाधीनता आन्दोलन की चरम परिणति थी आज़ादी, लेकिन उससे जुड़ा सदी का कुरूपतम सच था विभाजन।

''रात की तलछटे हैं अंधेरा भी है
सुबह का कुछ उजाला, उजाला भी है,,।''[29]

मख़दमू मोहिउद्दीन (चाँद तारों का वन)

आज़ादी और विभाजन की द्वैध वास्तविकता के साथ नए भारत का जन्म हुआ। लेकिन आज भी विभाजन उपमहाद्वीप की जनता के मानस में हमेशा अपनी डरावनी आहटें गुँजाता रहता है। दरअसल विभाजन के जरिए किसी एक भू–क्षेत्र को दो राष्ट्रों में बाँट–भर दिया गया हो, ऐसा कतई नहीं था। बल्कि विभाजन के जरिए एक सभ्यता दो भू–क्षेत्रों में तोड़ दी गई थी। विभाजन के इस भयावह और क्रूर सच का एक ओर जहाँ सबसे नाटकीय और कड़वा साहित्यिक बयान सआदत हसन मंटो की अविस्मरणीय कहानी 'टोबा टेक सिंह' में मिलता है, वहीं दूसरी ओर लैरी कॉलिन्स और डोमीनिक लापियर ने चर्चित कृति 'फ्रीडम एट मिड नाइट' (हिन्दी अनुवादः 'बारह बजे रात के', राधाकृष्ण प्रकाशन) में विभाजन के दौरान साम्प्रदायिक उन्माद की क्रूरता और विवेकहीनता की त्रासद तस्वीर उकेरी है। विभाजन की खौफ़नाक और ख़ामोश स्मृतियों को शब्द प्रदान करते हुए कॉलिन्स और लापियर लिखते हैं कि ''ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। ऐसी तबाही पहले कभी नहीं मची थी, इतने बड़े पैमाने पर तबाही की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। उसका कोई नियम नहीं, कोई तरीक़ा नहीं था। उस बर्बरता के पीछे कोई तर्क नहीं था। छः हफ्ते तक पुराने जमाने की ताऊन की तबाही की तरह पूरे उत्तरी भारत में हत्या का उन्माद छाया रहा। .... यह युद्ध नहीं था, गृह युद्ध नहीं था, छापेमार लड़ाई भी नहीं थी। यह एक तरह का उबाल था, अचानक एक समाज टूटकर ढह रहा था।''[30]

विभाजन के घने अन्धेरों में जब पूरा समाज असहाय होकर मूकदर्शक बना बैठा था, तो उजाले की किरण बनकर गाँधी आए। हिंसा और घृणा की आग में झुलस रहे नोआखली के गाँवों में गाँधी ने अपनी 'प्रायश्चित–यात्रा' के द्वारा शान्ति और सद्भावना

कायम की। 15 अगस्त 1947 को जब पूरा देश आजादी के उल्लास में डूबा था, तब आजादी के अगुवा गाँधी सबसे अलग हटकर कलकत्ता के हैदरी हाउस में अपनी शान्ति–प्रार्थनाओं द्वारा दंगों की पीड़ा से व्यथित कलकत्ता में फिर से भाईचारे का माहौल पैदा करने की कोशिशें कर रहे थे। दुर्भाग्यपूर्ण यही रहा कि साम्प्रदायिकता के सबसे पुरजोर विरोधी गाँधी अन्ततः साम्प्रदायिक ताकतों की हिंसा के शिकार हो गए। लेकिन गाँधी की शहादत ने साम्प्रदायिक उन्माद से पागल हुए भारतीय समाज को झकझोर कर रख दिया। इस सन्दर्भ में कॉलिन्स और लापियर लिखते हैं कि "गाँधी ने मरकर अपना वह लक्ष्य प्राप्त कर लिया था जिसके लिए वह जीवन के अन्तिम कुछ महीनों में निरन्तर प्रयास करते रहे थे। उनकी हत्या से भारत के शहरों और गाँवों में पड़ोसी के हाथों पड़ोसी की निर्मम साम्प्रदायिक हत्या का सिलसिला बन्द हो गया। .... बिड़ला हाउस के बगीचे में उस दिन जो बलिदान हुआ वह 1947–48 में भारतीय उपमहाद्वीप में व्याप्त विजय और विपदा का चरमोत्कर्ष था।"[31]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में विभाजन ने साम्प्रदायिक ताकतों के इस तर्क को मजबूती प्रदान कर ही थी कि मुसलमानों को पाकिस्तान के रूप में एक मुस्लिम राष्ट्र मिल चुका है, इसलिए भारत को घोषित रूप से 'हिन्दूराष्ट्र' बन जाना चाहिए। लेकिन अत्यधिक विपरीत परिस्थितियों के बावजूद नेहरू ने एक ऐसे राज्य की आधारशिला रखी, जो एक समरूप भारतीयता आरोपित करने के बजाय सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक विभिन्नताओं की सुरक्षा के प्रति पूर्णतया वचनबद्ध था। नेहरू ने भारतीयता की एक ऐसी परिभाषा रची जो विविधताओं के परस्पर समायोजन और आपसी स्वीकरण की प्रक्रिया पर जोर देती थी। नेहरू के लिए भारतीयता का बुनियादी तर्क 'आन्तरिक विविधता' था। नेहरू ने अपनी 'बहुसंस्कृतिवाद' की अवधारणा से बहुलतावादी भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने की कोशिश की, जो एक नए राष्ट्र में रूपान्तरित हो रहा था।

नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता के प्रति अपनी पूर्ण प्रतिबद्धता के चलते उभरते हुए भारतीय लोकतन्त्र में धर्मनिरपेक्षता को एक बुनियादी मूल्य के रूप में स्थापित किया और एक धर्मनिरपेक्ष राज्य व समाज के निर्माण की ओर प्रस्थान किया। नेहरू की

धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी अवधारणा के विषय में सुनील खिलनानी ने लिखा है कि "नेहरू ने धर्मनिरपेक्षता को अन्य धर्मों का स्थान लेने वाले नागरिक धर्म की तरह कभी नहीं लिया। वे धर्म को मिलाकर सभी भारतवासियों पर धर्मनिरपेक्ष पहचान का ठप्पा लगाने और इस तरह समाज पर एक नई नैतिकता थोपने के पक्ष में तो क़तई नहीं थे। उन्हें भारत में धार्मिक विश्वासों की गहनता और बहुलता का पूरी तरह अहसास था। दरअसल, इसी वजह से उन्हें धार्मिक–सामाजिक अस्मिताओं को राजनीति के दायरे से बाहर रखने पर यक़ीन हो गया था। उनकी कोशिश तो धर्म के राजनीतिक इस्तेमाल को रोकने की ही रही। इसी को वे 'साम्प्रदायिकता' कहते थे।"[32]

नेहरू ने साम्प्रदायिकता को 'फासीवाद का भारतीय अनुवाद' बताते हुए उसके मूल चरित्र की पहचान की। बहुमत की साम्प्रदायिकता द्वारा स्वयं को राष्ट्रवादी आवरण में छिपाए रखने की गहरी चतुराई को उजागर करते हुए नेहरू ने कहा कि "बहुसंख्यक समुदाय की साम्प्रदायिकता अल्पसंख्यक समुदाय की तुलना में आवश्यकतानुसार राष्ट्रवाद का रूप धारणा कर लेती है। ... परन्तु वास्तव में ऊँचे स्वर में राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति की अपील करने वाले वाक्यों के पीछे साम्प्रदायिकता, अपने स्वभाव से एक प्रतिक्रियावादी तथा विघटनकारी स्वर ही है।"[33] नेहरू ने बहुमत और अल्पमत–दोनों प्रकार की साम्प्रदायिकताओं पर प्रहार करते हुए उसे राष्ट्रीय एकता के लिए खतरनाक माना और धर्मनिरपेक्षता को राष्ट्रीय एकता के बुनियादी आधार के रूप में परिभाषित किया।

नेहरू की धर्मनिरपेक्ष प्रतिबद्धता के बावजूद साठ के दशक से स्वातंत्र्योत्तर भारत में साम्प्रदायिकता ने पुनः पाँव पसारना शुरू कर दिया। 1962 में जबलपुर में आजाद भारत का पहला सबसे बड़ा साम्प्रदायिक दंगा हुआ। साठ के दशक के अन्तिम चरण में साम्प्रदायिकता तेजी से पनपने लगी। एक ओर जहाँ 1969 में अहमदाबाद और 1970 में भिंवडी–जलगाँव में बड़े साम्प्रदायिक दंगे हुए, वही दूसरी ओर जनसंघ तथा शिवसेना जैसी साम्प्रदायिक रूझान वाली पार्टियाँ मजबूत हुई। राजनीतिक अवसराद के चलते राजनीति में धर्म और जाति की घुसपैठ हुई । धर्म निरपेक्ष पार्टियों में संप्रदायवादी

ताकतों के साथ समझौते करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई। साठ के दशक के प्रारम्भ में केरल में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ तथा 1967 में सोशलिस्ट पार्टी ने जनसंघ के साथ समझौता किया और यहाँ तक कि 1977 में जनसंघ को जनता पार्टी में शामिल कर लिया गया। राजनैतिक अवसरवाद की राजनीति ने एक ओर जहाँ साम्प्रदायिक दलों को राजनीतिक वैधता प्रदान की; वहीं दूसरी ओर, उनकी राजनीतिक–सामाजिक जमीन भी मजबूत की।

अस्सी के दशक से राष्ट्रीय राजनीति में धार्मिक भावनाओं के जमकर दोहन का सिलसिला शुरू हो गया। राजसत्ता बचाए–बनाए रखने के लिए हिन्दू कार्ड और मुस्लिम कार्ड खेले जाने लगे। तुष्टीकरण की नीति के चलते, जहाँ एक ओर शाहबानों प्रकरण (1985) में सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को पलटकर मुस्लिम कट्टरपंथियों को खुश करने की कवायद की गई; वहीं दूसरी ओर, अयोध्या में राम–मन्दिर शिलान्यास (1989) की अनुमति प्रदान कर हिंदू राष्ट्रवादियों को उर्वर भूमि प्रदान की गई। फौरी फायदों की इस घातक राजनीति से साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा मिला और साम्प्रदायिकता के वर्तमान उभार की पृष्ठभूमि निर्मित हुई।

अस्सी के दशक में राजनीति–सामाजिक परिदृश्य पर घटित कुछ घटनाओं जैसे मीनाक्षीपुरम में दलित धर्मान्तरण (1981), पंजाब समस्या तथा घाटी से कश्मीरी पण्डितों का पलायन (1990) आदि ने भी हिन्दू राष्ट्रवादियों द्वारा हिन्दू मानस के अवचेतन में उत्पीड़न–असुरक्षा ग्रन्थि के निर्माण की गुंजाइश पैदा कर दी। हिन्दू राष्ट्रवादियों को उत्पीड़न–असुरक्षा ग्रन्थि के रूप में एक ऐसा मोहरा मिल गया, जिसके द्वारा हिन्दू मानस के भाव–तन्त्र और विचार–तंत्र दोनों पर ही काबिज होकर फासीवादी साम्प्रदायिकता को बहुसंख्यक समाज के कामनसेन्स में तब्दील किया जा सके। इस सन्दर्भ में डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि "हिन्दू राष्ट्रवादियों ने पहले हिन्दू मानस में असुरक्षा–ग्रन्थि पैदा की और अब उसे असुर–ग्रन्थि में बदल रहे हैं। ....यह विचित्र, किन्तु सत्य है कि जो लोग स्वयं को देश की आबादी का पचासी फीसदी मानें, उन्हीं के बीच अल्पसंख्यकों जैसी असुरक्षा ग्रन्थि इतनी गहरी पैठ जाये। बात कितनी भी विचित्र

और अतार्किक लगे, लेकिन इसी का उपयोग कर हिन्दू राष्ट्रवाद ने हिन्दू चित्त का साम्प्रदायिकीकरण करने में अभूतपूर्व सफलता हासिल की है। विडम्बना यह है कि साम्प्रदायिकता–विरोधी विचारकों और राजनीतिज्ञों ने अल्पसंख्यकों की असुरक्षा ग्रन्थि को तो स्वाभाविक और इसीलिए अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता को किसी हद तक काबिले बर्दाश्त मान लिया, लेकिन बहुसंख्यक समुदाय के मन मे भी ऐसी असुरक्षा ग्रन्थि जड़ जमा सकती है –यह उन्हें नहीं सूझा।''[34] इस सन्दर्भ में मार्के की बात यह है कि साम्प्रदायिकता विरोधी विचारकों ने बहुसंख्यक समुदाय के मानस में घर कर रही उपेक्षा, असुरक्षा व आशंका की भावनाओं की अनदेखी की। फलतः हिन्दू राष्ट्रवादियों को एक ऐसा 'ओपेन स्पेस' उपलब्ध हो सका, जिसका दोहन कर उन्होंने अपनी साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति की जमीन तैयार की और बहुसंख्यक समुदाय के मानस के सहज बोध, नैतिक आस्था–विवेक को आक्रामक, विवेकहीन जड़ आस्था में तब्दील कर हिंसा, घृणा और प्रतिशोध की भयावह राजनीति को उभारने की कोशिश की ।

विडम्बना यह भी रही कि साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति ने आम हिन्दू मानस में जगह बनाने और उससे वैधता पाने के लिए 'राम' के रूपक का सहारा लिया। इसके चलते हिंदू राष्ट्रवादियों ने विविधता के वाहक 'विभाव–पुरूष' राम की समृद्धि तथा जटिलता को एक सपाट इकहरे मुहावरे में रूपान्तरित कर 'राम' को साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति का प्रतीक बना दिया। साथ ही मिथक, दंतकथाओं व मनगंढ़त इतिहास के घालमेल और उसकी सोची–समझी मनमानी व्याख्या के जरिए अयोध्या में स्थित बाबरी मस्जिद को 'अतीत के उत्पीड़न और आत्म कलंक' का रूपक बना दिया। इस प्रकार 'राम' और 'अयोध्या' फासिस्ट राजनीति की लामबन्दी के औजार बन गए। नतीजतन स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास की वह सर्वाधिक पीड़ादायी, घटना 6 दिसम्बर 1992 को घटित हुई, जब शुद्धतावादी हिंदू राष्ट्रवादियों ने 'आत्म' के मानस पर लगे मनगंढ़त कलंक को धुलने के लिए 'राम' के नाम का सहारा लेकर 'अन्य' के पवित्र स्थल (बाबरी मस्जिद) को नेस्तनाबूद कर दिया।

"हे राम,

जीवन एक कटु यथार्थ है

और तुम एक महाकाव्य!

तुम्हारे बस का नहीं

उस अविवेक पर विजय

जिसके दस–बीस नहीं

अब लाखों सिर–लाखों हाथ हैं

और विवेक भी अब

न जाने किसके साथ है।

इससे बड़ा क्या हो सकता है

हमारा दुर्भाग्य

एक विवादित स्थल में सिमटकर

रह गया तुम्हारा साम्राज्य

अयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं

योद्धाओं की लंका है

'मानस' तुम्हारा 'चरित्र' नहीं

चुनाव का डंका है।"[35]

कुँवर नारायण (अयोध्या–1992)

बाबरी मस्जिद विध्वंस महज एक शर्मनाक दुर्घटना नहीं अपितु बहुलतावादी भारतीय सामाजिक ताने–बाने के विखण्डन के दुःस्वप्न का रूपक थी। लेकिन कैसी गहरी विडम्बना है कि हिंदू राष्ट्रवादियों ने बाबरी मस्जिद विध्वंस को 'राष्ट्रीय पीड़ा' की बजाय 'राष्ट्रीय भावनाओं के प्रकटीकरण' की संज्ञा से नवाज कर इसे 'धार्मिक सांस्कृतिक कर्म' का दर्जा प्रदान करने की बेशर्म कोशिश की। दरअसल 'अयोध्या' सांप्रदायिकता के इतिहास के नए चरण के सूचक का रूपक बन गया, जहाँ हिंदू राष्ट्रवादियों को सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था में बढ़ती स्वीकृति तथा वैधता मिली। इस सन्दर्भ में डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि "6 दिसम्बर को बाबरी मस्जिद का गिराया जाना

फासीवादी आक्रामता का चरम बिन्दु ही नहीं, बल्कि समकालीन राजनीतिक विमर्श में अभूतपूर्व वैधता हासिल कर लेने के साथ आक्रामक जन समर्थन तैयार कर लेने में हिंदू राष्ट्रवाद की सफलता का भी संकेत था।''[36]

बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद गुजरे दस वर्षों में फासीवाद की चौतरफा आहटों की पदचाप निरन्तर सुनाई पड़ रही है। अयोध्या (1992) से गुजरात (2002) तक के बीते एक दशक में हिन्दू राष्ट्रवादियों का फासीवादी चेहरा खुलकर सामने आ गया है। बीते एक दशक में जहाँ एक ओर राजनीतिक परिदृश्य पर आस्थाओं और भावनाओं के दोहन से हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा शीर्ष सत्ता पर काबिज होना, धर्मनिरपेक्षता का मनका फेरने वाली पार्टियों का राष्ट्रवादियों के गोद में जा बैठना, राज्य के ताने–बाने तथा जनतान्त्रिक संस्थाओं के साम्प्रदायिकीकरण की प्रक्रिया और यहाँ तक कि गुजरात में राज्य द्वारा प्रायोजित नरसंहार आदि; वहीं दूसरी ओर, सामाजिक –सांस्कृतिक परिदृश्य पर बम्बई, सूरत और गुजरात में बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे, देश के विभिन्न हिस्सों में ईसाईयों पर बढ़ते हमले, ग्राहम स्टेंट हत्याकाण्ड(1998), संस्कृति, शिक्षा और इतिहास का भगवाकरण, मकबूल फिदा हुसैन तथा जतिनदास के चित्रों से तोड़फोड़, हबीब तनबीर के नाटक 'पोंगा पण्डित' (जमादारिन) और उदय प्रकाश की कहानी '... और अन्त में प्रार्थना' के मन्चन पर हमले, ब्यूटी कान्टेस्ट और वेलेण्टाइन डे का तथाकथित नैतिक रक्षकों द्वारा हिंसक विरोध, दीपा मेहता की फिल्म 'फायर' और 'वाटर' का विरोध व रोक, आनन्द पटवर्धन के वृत्तचित्र 'राम के नाम' और राकेश शर्मा के गुजरात नरसंहार पर आधारित वृत्तचित्र 'फाइनल साल्यूशन' का हिंसक प्रतिवाद और पुणे के भण्डारकर शोध संस्थान पर आक्रमण आदि कुछ घटनाओं की बानगी इसका जीता–जागता गवाह है कि आज फासीवाद हमारे दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। फासीवाद की इस आमद के सन्दर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार के०एन०पणिक्कर लिखते हैं कि ''बाबरी मस्जिद के ध्वंस और गुजरात के नरसंहार के बीच का दशक, आधुनिक भारत के इतिहास का 'एक खतरनाक दशक' है। इसकी वजह यह है कि इसी दौर में हिन्दू सांप्रदायिकता ने, एक आक्रामक सामाजिक व राजनीतिक आचार पर आधारित एक सुव्यवस्थित एजेण्डा के साथ, अपने फासीवादी चरण में प्रवेश किया है। .... जहाँ अयोध्या में उसके असर की झाँकी देखने को मिल गई थी, गुजरात में जोरदार तरीके से तथा दो–टूक ढंग से इसका एलान किया जा चुका है कि फासीवाद आ चुका है।''[37]

गुजरात नरसंहार (2002) महज एक वाकया नहीं, बल्कि साम्प्रदायिक फासीवाद की डरावनी हकीकत है। हिन्दुत्व की प्रयोगशाला में तब्दील हो गए गाँधी के गुजरात में

साम्प्रदायिक दंगों के ताण्डव के दौरान वो सब कुछ हुआ जो पहले के दंगों में कभी नहीं हुआ। सत्ता द्वारा प्रायोजित साम्प्रदायिक दंगे अपनी सीमाएँ तोड़कर, शहरों और कस्बों के अलावा, गाँवों और आदिवासी इलाकों में भी पसर गए। राज्य द्वारा मिले समर्थन–संरक्षण से सांप्रदायिक दंगों का स्वरूप अत्यधिक सुनियोजित–संगठित था, जिसमें मोबाइल फोन, मुस्लिम बस्तियों की कम्प्यूटरीकृत सूची, एल०पी०जी०गैस–सिलिण्डर भरी गाड़ियों और त्रिशूल–तलवार का बड़े पैमाने पर उपयोग किया गया। मध्य–वर्ग और निम्न वर्ग के अलावा खाते–पीते अघाए घरों के पुरूषों, नौजवानों और यहाँ तक कि महिलाओं ने भी हिंसा और लूट में भागीदारी की। वहशीपन की सारी हदें पार कर गर्भवती स्त्रियों के पेट फाड़कर उनके बच्चों को आग में झोंका गया और औरतों का सामूहिक बलात्कार कर उन्हें आग के हवाले कर दिया गया।

"वैष्णव जन
आखेट पर निकले है!
कैसी सर्वपापहारिणी मुस्कान है चेहरे पर
वे बच्चों को संस्कार देंगे
औरतों को पवित्र करेंगे
मर्दों को मुक्त करेंगे!
X X X
जो वैष्णव नहीं होंगे
शिकार हो जाएंगे.....
देखो क्षीर सागर की तलहटी में
नरसी की लाश सड़ रही है।"[38]

अंशु मालवीय (वैष्णव जन)

गुजरात नरसंहार की नृशंसता और बर्बरता बयान से परे है; लेकिन कुछ दूरगामी तथा खतरनाक संकेतों पर नजर डालना भी लाजिमी है। साम्प्रदायिक दंगों में एक ओर जहाँ दलितों और आदिवासियों की व्यापक भागीदारी रहीः तो वहीं दूसरी ओर, दंगों के बाद शरणार्थी शिविरों में रह रहे अल्पसंख्यक समुदाय के लोगों ने अपने पुश्तैनी मकानों–मुहल्लों में जाने की बजाय अलग बस्ती बनाने की माँग की। दरअसल यदि हिंदू राष्ट्रवादियों द्वारा दलितों और आदिवासियों का अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए चतुराई भरा इस्तेमाल, धार्मिक अस्मिता की आड़ में सामाजिक पदानुक्रम को बनाए रखने

की गहरी साजिश है, तो वहीं अलग मुहल्ले–बस्ती की माँग अर्थात 'घेट्टोकरण' जनमानस के दिलो–दिमाग में उपजे 'मानसिक विभाजन' की परिचायक है।

बेशक! गुजरात फासीवाद की आहट और आमद का एक 'अश्लील रूपक' है। आज जब पूरे देश को ही गुजरात बना देने की साजिश रची जा रही है, तो समझा जा सकता है कि 'साम्प्रदायिक फासीवाद' का यह खतरा कितना भयावह और गम्भीर है। लेकिन यह हमारे लिए चेतावनी ही नहीं, बल्कि चुनौती भी है। प्रतिरोध के इस निर्णायक क्षण में अगर हमने अतीत से सबक नहीं सीखा और वर्तमान से जिरह और संवाद के बजाय बेखबर और बेपरवाह होकर चुप्पी साधे रहे, तो निश्चय ही बहुत देर हो जाएगी।

"पहले वे यहूदियों के लिए आए
और मैं नहीं बोला क्योंकि
मैं यहूदी नहीं था,
फिर वे कम्यूनिस्टों के लिए आए
और मैं नहीं बोला क्योंकि
मैं कम्यूनिस्ट नहीं था,
x x x
फिर वे मेरे लिए आए
और तब मेरे लिए बोलने वाला
कोई नहीं था, कोई नहीं।"[39]

पास्तर मार्टिन निमोलर

संदर्भ–स्रोत :

1. 'कबीर' – आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990, पृष्ठ–248।
2. 'विश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता'–के०एन०पणिक्कर, लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली, 2003, पृष्ठ–5।
3. 'आलोचना'–संपादक नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, अंकःअप्रैल–जून 2000, पृष्ठ–8।
4. 'मेकिंग इण्डिया हिन्दू'–संपादक डेविड लडेन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1996, पृष्ठ–12।
5. 'नवजागरण तो जारी है लेकिन....'–डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, 'हस्तक्षेप'–राष्ट्रीय सहारा, 18 फरवरी 1995।
6. 'भारत में साम्प्रदायिकताः इतिहास और अनुभव'–असगर अली इंजीनियर, इतिहास बोध प्रकाशन इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ–122।
7. 'साम्प्रदायिकता और संस्कृति'–प्रेमचंद, 'वे प्रेमचंद से डरते हैं' नामक पुस्तक में संकलित निबन्ध, सहमत और जलेस, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–85।
8. 'संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ–148।
9. 'अशोक के फूल'–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1988, पृष्ठ–14।
10. 'भारतनामा'– सुनील खिलनानी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ–112।
11. 'सांस्कृतिक बहुलतावाद का विमर्श'–नामवर सिंह, कसौटी–संपादक नंदकिशोर नवल, पुनश्च, पटना, अंकः अप्रैल–जून 99, पृष्ठ–92।

12. 'फासीवाद की राजनीतिक संस्कृति' –जयरस बाना जी, कृति संस्कृति संधान– संपादक सुभाष गाताड़े, संधान, नई दिल्ली, अंकः जनवरी–मार्च 2003, पृष्ठ–24।
13. 'अकबर नाम लेता है खुदा का....'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, तद्भव– संपादक अखिलेश, तद्भव प्रकाशन, लखनऊ, अंकः अप्रैल–2003 पृष्ठ–60।
14. '' 'काश पूछो कि मुद्दा क्या है.....'' परिभाषाओं का संघर्ष – डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल के आलेख से उद्धृत,कथादेश, संपादक हरिनारायण, सह यात्रा प्रकाशन, नई दिल्ली, अंकः नवम्बर–2003, पृष्ठ–39
15. 'भारतीयता बनाम हिन्दुत्वः विष्णु पुराण बनाम सावरकर'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल के आलेख से उद्धृत, 'हस्तक्षेप' राष्ट्रीय सहारा, 18 जनवरी 2003।
16. 'विश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता'–के.एन.पणिक्कर, पृष्ठ–28।
17. 'धर्म, संस्कृति, साम्प्रदायिकता और वैश्वीकरण'– संपादक अजेय कुमार, उद्भावना प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृष्ठ–50।
18. ''मीडिया में 'राजधर्म' और 'जनधर्म' की मुठभेड़–''रामशरण जोशी, हंस–संपादक राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, अंकः जून–2002, पृष्ठ–42।
19. 'बेटौल्ट ब्रेष्ट' – संपादक मोहन थपलियाल, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, *1998*, पृष्ठ–5।
20. 'व्हाट इज हिस्ट्री' – ई.एच.कार, पेंगुइन 1972, पृष्ठ–11।
21. 'भारतीय इतिहास में मध्यकाल' –इरफान हबीब, सहमत, नई दिल्ली, *1999*, पृष्ठ–124।
22. 'उन्हें कैसा हिन्दू चाहिए'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, हिन्दू होने का मतलब– संपादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, *2000*, पृष्ठ–69।
23. 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष' – बिपिन चन्द्र, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, *1995*, पृष्ठ–322।
24. 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' – जवाहर लाल नेहरू, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1989, पृष्ठ–352।

25. 'भारत में साम्प्रदायिकताः इतिहास और अनुभव' – असगर अली इंजीनियर, पृष्ठ–58।

26. 'संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृष्ठ–19।

27. 'विश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता'– के० एन० पणिक्कर, पृष्ठ–58।

28. 'भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष'– बिपिन चन्द्र, पृष्ठ–351।

29. 'बिसात–ए–रक्स'– मखदूम मोहिउद्दीन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–79।

30. 'बारह बजे रात के'– कालिन्स और लापियर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ–237।

31. वही– पृष्ठ–392।

32. 'भारतनामा'– सुनील खिलनानी, पृष्ठ–191।

33. 'आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति'–बिपिन चन्द, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, *1999*, पृष्ठ–75।

34. 'उन्हें कैसा हिन्दू चाहिए'–डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, हिन्दू होने का मतलब, संपादक राजकिशोर, पृष्ठ–69।

35. 'धर्म, संस्कृति, साम्प्रदायिकता और वैश्वीकरण'– संपादक अजेय कुमार, पृष्ठ–66।

36. 'संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध'– डॉ० पुरूषोत्तम अग्रवाल, पृष्ठ–133।

37. 'विश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता'– के०एन०पणिक्कर, पृष्ठ–104।

38. 'वैष्णव जन'– अंशु मालवीय, दंगे में ... प्रशासन, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003, पृष्ठ–47–48।

39. 'आलोचना'– संपादक नामवर सिंह, अंकः अप्रैल–जून 2002, पृष्ठ–30।

द्वितीय अध्याय

आत्मालोचना की विकलता : अपनी ही खाल के नीचे छिड़े दंगे से दरपेश होने की कोशिश

''बर्बर! वे हमारे दरवाजों तक ही नहीं आ पहुँचे हैं,
वे हमारी त्वचा के भीतर तक आ चुके हैं।''[1]
(सलमान रुश्दी के उपन्यास 'द मूर्स लास्ट साइ' के नैरेटर का कथन)

'हमारा शहर उस बरस'-

... एक बर्बर और भयावह समय के जटिल यथार्थ से कतराकर नहीं, बल्कि टकराकर और उससे जिरह कर अपने समय और समाज की गवाही ...

.. अभिव्यक्ति के संकट के कठिन क्षणों में जब समझने तथा कहने का स्पेस बाहर ही नहीं बल्कि भीतर तक भी नहीं छोड़ा जा रहा है, तो कुछ निहायत जरूरी और असुविधाजनक सवालों के साथ अन्दर और बाहर के अन्तर्द्वन्द्व की उधेड़बुन....

... स्याह अँधेरे में बिखरे–छिटके मानवीय सच को टुकड़ा–टुकड़ा जोड़ने और उसे कहने का दो टूक साहस....

''बात दरअसल उस बरस भर की नहीं है। उस बरस को हम आज में भी घसीट लाए है। न ही बात है सिर्फ हमारे शहर की। 'और शहरों जैसा ही हमारा शहर'– सुलगता, खदकता– 'स्रोत और प्रतिबिम्ब दोनों ही ' मौजूदा स्थिति का।''[2]

अयोध्या में 6 दिसम्बर 1992 को घटित बाबरी मस्जिद विध्वंस की शर्मनाक घटना हमारे सामाजिक ताने–बाने के विखण्डन के दु:स्वप्न का रूपक थी– ''जिस तरह

मुल्क में ईटें टूटी, उसमें तो शायद सच यह है कि नींव तो मुल्क की हिली।''[3] ऐसे स्याह बरस अर्थात 'उस बरस' की क्रूरता और उसके समक्ष मानवीय निरीहता और टूटन की मार्मिक और बेबाक बयानी है– 'हमारा शहर उस बरस'। अयोध्या (1992) से गुजरात (2002) तक के पिछले दशक के सफर से जाहिर ही है कि साम्प्रदायिक फासीवाद वर्तमान समय और समाज की डरावनी हकीकत बन गया है। दरअसल वह बरस बीता ही नहीं बल्कि और अधिक भयावह रूप में हमारे वर्तमान का 'अनचाहा सच' बन गया है। और 'हमारा शहर'– कहना न होगा कि आज साम्प्रदायिक फासीवाद सूरत, बड़ोदरा या अहमदाबाद की चौहद्दियों को लांघकर पूरे देश में पसर ही नहीं गया है, बल्कि हमारे अपने अन्दर भी घर कर गया है। हमारी अपनी रगों–रेशें में भी कुछ रेंग रहा है। वर्तमान के संक्रमण की इस पीड़ा में बाहर और अन्दर दोनों को ही परत–दर–परत उघाड़कर साम्प्रदायिक फासीवाद के अँधेरी तहों की पड़ताल है– 'हमारा शहर उस बरस'।

एक ऐसे स्याह समय में जब साम्प्रदायिकता समाज का सहज स्वभाव बनती चली जा रही थी, तो 'हमारा शहर उस बरस' के मुख्य चरित्र हनीफ़, शरद और श्रुति तीनों ने यह ठान लिया कि वह लिखेंगे ही। हनीफ़ और शरद विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर है और हनीफ़ की पत्नी श्रुति है लेखिका। तीनों आपस में गहरे दोस्त है और सबसे खास यह कि वे अपने को 'न हिन्दू, न मुसलमान' मानकर 'तीसरी जमात' का मानते हैं। तीसरी जमात के हनीफ़, शरद और श्रुति की यह जिद थी कि भले ही समझने और कहने की गुंजाइश शहर में नहीं छोड़ी जा रही है, तो भी उस बरस के बारे में हर हाल में कहना ही है। कुछ यूँ कि ...''साफ–साफ देख लेंगे और जैसा साफ देख लेंगे वैसा ही साफ दिखा देंगे।''[4] दरअसल उस वक्त चुप रहना अपने वर्तमान और भविष्य दोनों ही के प्रति एक अपराध होता। क्योंकि भावी पीढ़ी अपने अतीत अर्थात् वर्तमान पीढ़ी से यह सवाल जरूर पूछती कि स्याह अन्धेरे के खिलाफ तुम चुप्पी क्यों साधे रहें ?

"वे नहीं कहेंगे
कि वह समय अन्धकार का था
वे पूछेंगे
कि उस समय के कवि चुप क्यों थे।"[5]

ब्रेष्ट

मगर गहरी त्रासदी यह कि साम्प्रदायिक फांसीवाद के चौतरफा दबाव में हनीफ़, शरद और श्रुति का संकल्प बिख़रने लगता है। वे लिखने में अपने को असमर्थ पाने लगते .... वे लिखते और अधूरा छोड़ देते...। अपने लिखे को ही खोखला पाते और कहते, "सब रटी–रटाई बातें हैव। जिनको लिखने से कुछ नहीं होगा, क्योंकि वें हर तरफ नकारी जा रही है। सरकारी नारों की तरह बेमतलब हो चुकी है।"[6]

साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध बुद्धिजीवी शरद और हनीफ़ को अपना हस्तक्षेप बेमानी लगता है। उनमें व्यर्थता–बोध का अहसास इस हद तक घर कर जाता है कि वे लिखना ही छोड़ देते हैं और यहाँ तक कि पेशेवर लेखिका होने के बावजूद श्रुति भी लिख नहीं पा रही है। यह जरूर है कि वह सोचती है कि कैसे भी हो आखिरकार लिखना तो पड़ेगा ही– "यह वीभत्स जीभ जो हमारे शहर को लपलप जा रही है, उसके खिलाफ गवाही क्या बचेगी.....? और हम ही न रहे तो ?"[7] एक खतरनाक ढंग से उलझे हुए समय में चीजों को ठीक से समझ न पाने या साफ दो टूक न कह पाने की ईमानदार स्वीकारोक्ति के बावजूद लेखिका की एक नकलकर्ता या 'एक बच्चे की जिज्ञासु नजर से लिखने की विकलता' अपने समय और समाज के संकटों के प्रति उसकी गहरी संवेदनशीलता और प्रतिबद्धता को तो दर्शाती ही है, साथ ही फासिज्म के विरुद्ध प्रतिरोध की संस्कृति का माध्यम भी बनती है।

लेकिन गहरी विडम्बना यह भी थी कि हनीफ और शरद जैसे बुद्धिजीवी जिनमें समाज को स्याह अँधेरे से रोशनी की ओर ले जाने का जज्बा दिखता था, वे ही इन अँधेरों से अन्दर और बाहर घिर गए और खुद को असहाय पाने लगे। "हम उदास लोग

थे। बेकार महसूस करने लगे थे। लड़ते तो गीदड़–भभकी लगती। चुप रहते तो शहादत। बोलते तो भावुकता। हमे लगता था कि जो वाक्य हम बोलकर अपने और मुहल्लों के बीच पाट रहे है। सब बेकार है। हमारे और उनके बीच के वाक्यों की बात ही नहीं है। वाक्य है, जो उनके अन्दर है और वाक्य है, जो हमारे अन्दर है। जो निकलते हैं तो उनके हमारे बीच कुछ नहीं बनाते, अन्दर को खोखला करते ऊपर फोड़े की तरह आ जाते हैं, बस।''[8] समाज और इतिहास की अधिकारिक और वैज्ञानिक समझ रखने वाला बुद्धिजीवी वर्ग ही समाज की गति को और खुद स्वयं को ही समझ पाने में असमर्थ होने लगा। नाउम्मीदगी के अहसास के चलते साम्प्रदायिक फासीवाद के विरुद्ध उन्हें अपना हस्तक्षेप खुद एक कर्मकाण्ड लगने लगा, दंगों के समय की जाने वाली एक बेमतलब की रस्म अदायगी। ''फिर दंगे होते, फिर कर्फ्यू लगता, फिर जरा ढील दी जाती। फिर हम सर्वधर्मसभा और शांति मार्च करते ... बस सब वही–वही नाटक बार–बार कर रहे थे और बस हम सबकी भूमिकाएँ निर्धारित थी।''[9] एक ऐसे समय में जब सब कुछ बेमानी हो चला था, तो हनीफ और शरद में अपनी जमीन निरन्तर खोते चले जाते की 'आत्मपराजयी पीड़ा' रिस रही थी।

''जब तक मैं एक अपील लिखता हूँ
आग लग चुकी होती है सारे शहर में
हिज्जे ठीक करता हूँ जब तक अपील के
कर्फ्यू का ऐलान करती घूमती लगती है गाड़ी
अपील छपने जाती है जब तक प्रेस में
दुकानें जल चुकी होती है
मारे जा चुके होती है लोग
छपकर जब तक आती है अपील
अपील की जरूरत खत्म हो चुकी होती है।''[10]

राजेश जोशी (जब तक मैं एक अपील लिखता हूँ)

बहरहाल, जरूरत इन सवालों की पड़ताल की है कि साम्प्रदायिक फासीवाद वर्तमान समाज के अनचाहे लेकिन सहज हिस्से के रूप में कैसे तब्दील हो गया ? सड़कों पर छिड़े दंगों के खिलाफ लड़ाई लड़ने वाले खुद की ही खाल के नीचे छिड़ें दंगो से कैसे घिर गए और उससे कैसे दरपेश हुए ? और साथ ही इधर–उधर, अन्दर–बाहर की सुविधाजनक और बेमानी दीवारों के दरकने तथा उससे उपजी गहरी बेचैनी और संशय की।

सवालों के पड़ताल से गुजरने की इस प्रक्रिया में सबसे पहले सामाजिक मानस में साम्प्रदायिकता के आत्मसातीकरण का सवाल उठता है। कहने की जरूरत नहीं है कि साम्प्रदायिक फासीवाद राजनीति सामाजिक मानस में घर करने और उससे ही वैधता पाने के लिए धर्म को बतौर माध्यम इस्तेमाल करती है। फासिस्ट राजनीति में धर्म गाँधी के गहन नैतिक प्रतिमान या नैतिक आस्था और विवेक के सहज बोध का रूपक न होकर एक विवेकहीन अंध आक्रामक आस्था में तब्दील हो जाता है। साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति धर्म की बुनियाद पर समाज को 'आत्म' तथा 'अन्य' अस्मिताओं में विभाजित कर और उनमें परस्पर संवाद और जिरह को सेंसर कर राष्ट्र और समाज की प्रत्येक समस्या (अतीत और वर्तमान दोनों की ही) के लिए 'अन्य' को जिम्मेदार ठहराकर उसके प्रति हिंसा, प्रतिशोध और घृणा को वाजिब ठहराती है। साम्प्रदायिक फासिस्ट राजनीति के इस वास्तविक चरित्र को उद्घाटित करते हुए डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल लिखते हैं कि, ''फासीवाद और उसके भारतीय संस्करण साम्प्रदायिकता की राजनीति यही होती है– अपने धार्मिक/प्रजातीय समुदाय को एक विवेकहीन, संवेदन–शून्य चट्टान में बदल डालना, देश के किसी समुदाय को लोगों की चेतना में स्थायी शत्रु का दर्जा दिला देना, एवं किसी भी तरह की बहस और संवाद के रास्ते बन्द कर देना। आस्था, भावना और परम्परा के बहाने समाज के आलोचनात्मक विवेक को अवरूद्ध कर देना।''[11]

'हमारा शहर उस बरस' धर्म के मार्फत की जा रही फासिस्ट राजनीति के बहुआयामी विद्रूप चरित्र का खुलासा करता है। कुछ यूँ कि ''हमारे शहर में उन दिनों

लाउडस्पीकर से धर्म बँटते थे। ... उस बरस भगवानों की बाकायदा खेती हुई।''[12] बच्चों के खेल का मैदान एक देवी मठ के रूप में तब्दील हो जाता है या यूँ कहे कि कर दिया जाता है। मठ के माध्यम से आक्रमक विवेकहीन उन्मादी फासीवादी संस्कृति का सुनियोजित प्रसार किया जाता है। देवी मेलों, यज्ञों और त्योहारों की आड़ लेकर फासीवादी उन्मादी संस्कृति का अश्लील प्रदर्शन किया जाता है। मठ चीख रहा है और उस चीख के खदबाते डर से सारा शहर दहशतजदा हो जाता है।

''यह कौन सा ईश्वर है
कैसा है यह त्योहार और यह जुलूस
जिसकी आवाजों में से निकलती हुई
छाती में गड़ रही है हथियार की नोक
जिसको देखकर सहम जाता है एक बच्चा
और एक चिड़िया घबराकर पछीटती है अपने पंख ?

x x x x

ऐसे में जो महज एक आदमी बना रहना चाहता है
सोचता है– आखिर क्या चाहते हैं ये ईश्वरीय संगठन ?

x x x x

वे ईश्वरीय संगठन
अब फिरौती में माँग रहे है
बचे हुए मनुष्यों का पूरा जीवन।''[13]

कुमार अम्बुज (ईश्वरीय संगठन)

शहर के किनारे पड़े खंडहरनुमामस्जिद की गुम्बद पर मठ की गेरुआ पताका फहरा दी जाती है। मठ का उन्मादी तंत्र इसे एक चमत्कार के रूप में प्रचारित करते हुए कहता है कि ''भक्त वानर पहुँचे थे देवी की ध्वजा फहराने। ... वीर थे। कोई शक्ति थी, जो पताका अपने आप लग गई।''[14] मस्जिद तोड़ने वाले उन्मादियों को बलिदानी का और उस स्थल को तीर्थ का दर्जा प्रदान कर दिया जाता है। लेकिन दरअसल वह

मस्जिद–कम–मन्दिर न होकर ददू के शब्दों में कहे, तो 'खस्सी' बन जाता है – ''लिंग काटकर एक से दूसरा नहीं बना जाता। .... सिर्फ खस्सी बन जाते हैं।''[15]

साम्प्रदायिक फासीवाद की उन्मादी संस्कृति के निशाने पर केवल दूसरे समुदाय के लोग और उनके धार्मिक स्थल ही नहीं है बल्कि हमारी साँझी परम्परा, गंगा–जमुनी तहजीब और इतिहास भी है। परम्परा, संस्कृति और इतिहास को समग्रता में देखने के बजाय अत्यन्त विकृत ढंग से तथ्यों को तोड़–मरोड़ कर एक ओर 'सामाजिक मानस के आलोचनात्मक विवेक को भोथरा कर दिया जाता है। तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक राजनीति को ऐतिहासिक वैधता और सैद्धान्तिक समर्थन प्रदान करने की कोशिश की जाती है। इस गहरी चतुराई भरी राजनीति का खुलासा करते हुए हनीफ अपने छात्रों से कहता है कि ''हैवानी आत्माएँ इतिहास के पन्नों से कुछ का कुछ उठाकर उसका मलीदा बनाकर जहर–बुझे तीरों पर लगाकर तान देती हैं। और हम अपनी जाहिली में उन पर यकीन कर लेते हैं।''[16] गढ़े गए ऐतिहासिक आख्यानों, रची गई सांस्कृतिक स्मृतियों और मिथकों–दंतकथाओं के घालमेल और उनकी मनमाफिक और मनमानी व्याख्या के जरिए 'हमारा प्रामणिक इतिहास' जैसी किताबें लिखी जाती है, जो साम्प्रदायिक मानस गढ़ने का माध्यम बनती है। इतिहास के साम्प्रदायिक मिथकीकरण की राजनीति की असलियत को उजागर करते हुए हनीफ और शरद कुछ जरूरी सवाल भी उठाते है कि ''इतिहास की सारी बुनाई में से एक ही धागा क्यों निकालते हो ? ... अरे किसने चुनाव किया कि बस यह और यह गिनाएँगे, बाकी भूल जाओ ? और क्यों हम मान गए है ? ... हमारी नजर बीते युग पर ही क्यों अड़ी है ? क्यों हम आज और आने वाले कल के प्रति इतने ना–उम्मीद है कि पीछे ही देखे जा रहे है और उसमें भी केवल अलगाव के प्रतीकों को ढूँढ रहे है ?''[17]

साम्प्रदायिक फासीवाद का गहराया स्याह अँधेरा बौद्धिकों की निर्माण स्थली 'यूनिवर्सिटी' में भी पसर जाता है। यूनिवर्सिटी पर मठ हावी हो जाता है। ''उसके पहले हमारा शहर यूनिवर्सिटी के कारण जाना जाता था। उस बरस ने उसे तीर्थ स्थान बना दिया।''[18] मठ की साम्प्रदायिक फासीवादी राजनीति का प्रसार बौद्धिक विमर्श के केन्द्र

यूनिवर्सिटी में भी होता जा रहा है। लाख प्रगतिशीलता तथा बौद्धिकता के बावजूद बुद्धिजीवी वर्ग तथा समाज का भविष्य युवा वर्ग भी साम्प्रदायिक मानसिकता की संकीर्णता से घिरता जा रहा है। डिपार्टमेण्ट की अन्दरूनी उठा–पटक की राजनीति में भी साम्प्रदायिक राजनीति घुल–मिल रही है। शहर और यूनिवर्सिटी के बीच फांसले की बात बेमानी हो चली है, जिस आग से सारा शहर जल रहा है। उसकी आँच यूनिवर्सिटी में तो आनी ही है लेकिन जिलाधीश की हिदायत थी कि यूनिवर्सिटी में बाहर की बातें बन्द हों, मगर अब क्या यह सम्भव रह गया है ? ''सवालों का डण्डूरा हमें चकराता छोड़ गया था। यूनिवर्सिटी और बाहर ? एक अन्दर एक बाहर ? यूनिवर्सिटी और शहर ? यह बातें बाहर की, जो शहर की, सच–झूठ परखने की, जीने–मरने की ? अन्दर की बातें हो ? वे कौन–कौन सी बातें होगी ? जो अन्दर की होगी, जिनका बाहर की बातों से लेना–देना न होगा ?

बाहर अन्दर घुस गया था, मगर डॉट अन्दर को अन्दर न रखने की पड़ रही थी'।''[19]

लेकिन सच तो यह था कि जिन बाहरी बातों से बचने की हिदायत यूनिवर्सिटी को दी जा रही थी, वो तो कब की आ चुकी थी। हनीफ के हेडशिप का सवाल उसकी अपनी पहचान से जुड़ जाता है। साम्प्रदायिक उन्माद के इस दौर में लोगों के नाम, नाम न होकर प्रतीक हो गए है। ''.... हमारे हाथ से एक लड़ाई फिसल गई थी। दोनों सूरतों में हमारी हार थी– हनीफ़ हेड बने या न बने। दोनों सूरतों में हनीफ़ हनीफ़ नहीं एक 'प्रतीक' रह गया था। और इसका शहर में छिड़े दंगों से मतलब था।''[20]

साम्प्रदायिक फासीवाद के प्रतीकीकरण की राजनीति व्यक्ति की जन्म–जात अस्मिता को उसकी पहली और अखिरी पहचान बना देती है। प्रतीकीकरण की राजनीति का प्रतिवाद करते हुए स्वयं को 'तीसरी जमात' का मानने वाली श्रुति कहती है, ''शर्म यह नहीं कि हम ये हैं कि वो। शर्म यह है कि उसका इतना ढोल क्यों पीटा जा रहा है। जैसे ठप्पा लगा है कि जो हर वक़्त पहली और आखिरी पहचान है हमारी।''[21]

प्रतीकीकरण की ही राजनीति के चलते हनीफ़ की जन्मजात अस्मिता जबरन उसके व्यक्तित्व पर चस्पा कर दी जाती है। हनीफ़ की त्रासदी का बयान है कि "मेरी... मुसलमानियत ज़बरदस्ती मुझ पर लद गई है।"[22] हनीफ़ अपनी खास पहचान के कारण फासीवादी शक्तियों के निशाने पर है। शहर में दीवारों पर चिपकाई जा रही हिटलिस्ट में हनीफ़ का नाम है। हनीफ़ भीतर ही भीतर घुलने लगा है। "हनीफ़ की आत्मा मरोड़ उठी है और वह सीधा बैठा है, मगर सिकुड़ गया है जैसे उस पर पहचान का गोदा लगा दिया गया है।"[23] छात्र हनीफ़ के सैक्शन से हट जाने की इजाजत माँग रहे हैं। कक्षाओं का यह बहिष्कार पहचान की राजनीति की अत्यन्त त्रासद परिणति है, जो हनीफ़ की आत्मा को कुरेदकर रख देती है। हनीफ़ का धैर्य जवाब दे जाता है और वह फूट–फुटकर रो रहा है, मानो–

"मैं जो सिर्फ एक आदमी बनना चाहता था,
ये क्या बना दिया गया हूँ।"

पाश

प्रतीकीकरण की राजनीति से केवल हनीफ ही नहीं जूझ रहा है बल्कि साम्प्रदायिक उन्माद के इस दौर में सारा समाज ही इससे अभिशप्त हुआ है। "हिन्दू–मुसलमान हो गई थी हर चीज, हर रंग, हर शब्द, हर सलाम–नमस्कार, अचकन–धोती, हरा–पीला ... जिद्दी बरस था, जो हर चीज, हर रंग, हर शब्द, हर लोग को हिन्दू और मुसलमान में बाँटने पर आमादा था। इतना कुछ हिन्दू में से निकलकर, इतना कुछ मुसलमान में से खाली करके कि जो बचा, वह न हिन्दू था, न मुसलमान, न हमसे से ही कोई था वह।"[24]

जाहिर है कि प्रतीकीकरण की राजनीति व्यक्ति की जन्म–जात अस्मिता को उसकी पहली और आखिरी पहचान बनाकर उसकी सामुदायिक पहचान को साम्प्रदायिक पहचान में तब्दील कर देती है। साम्प्रदायिक विचार पद्धति में व्यक्ति की जन्म–जात अस्मिता ही निर्णायक मानदण्ड होती है। क्योंकि वह मूल्याधारित समुदाय के बरक्स

रक्ताधारित–नस्लाधारित समुदाय का निर्माण करती है। रक्त–नस्ल के प्रस्थान बिन्दु के जरिए व्यक्ति आधारित अस्मिता के बरक्स धर्मधारित अस्मिता की निर्मित की जाती है, क्योंकि इस विचार पद्धति में धर्म का निर्णायक अर्थ रक्त–नस्ल ही है। दरअसल प्रतीकीकरण की राजनीति व्यक्ति की विविधवर्णी, संवादधर्मी अस्मिता को नकार कर उसे इकहरी स्पन्दनहीन जड़ अस्मिता में रूपान्तरित कर देती है। प्रतीकीकरण की राजनीति की इस पड़ताल में, याद आते हैं, दद्दू के शब्द, ''पहचान को गाढ़ी लकीरों से आकार बनाकर किसी टुकड़े में घुसेड़ोगे तो पहचान नहीं, बेकार बेजान कट–आउट रह जाएगा, कि पहचान तो बाहर फूटती और फैलती और खुले में विचरती, हर चीज से लपटती, घुलती, रोशनी है, जिसे किसी टुकड़ें में बन्द करोगे कि –विशुद्ध अस्तित्व बनेगा तो बस बुझ जाएगी और मरा हुआ आकार रह जाएगा। मांस का घिनौना लोथ।''[25]

बहरहाल, साम्प्रदायिकता के आत्मसातीकरण का प्रश्न हो या पहचान के संकट का सवाल, इस पार–उस पार, इधर–उधर, अन्दर–बाहर, हम–वे या आत्म–अन्य की सुविधाजनक विभाजक रेखाएँ खीचकर खुद को सुरक्षित रखने की तसल्ली कर ली जाती है। लेकिन सवाल यह है कि क्या वास्तव में ये एक दूसरे से अलग है ? दरअसल अन्दर–बाहर या आत्म–अन्य प्रकार का कोई भी विभाजन ही बेमानी है। अन्दर और बाहर एक दूसरे से स्वायत्त नहीं हैं बल्कि एक दूसरे में गूंथे हुए है। प्रसिद्ध इतिहासकार सुधीर चन्द्र के शब्दों में कहे, तो ''अन्दर और बाहर अलग नहीं है, एक दूसरे में बिंधे है, ऐसे कि अलग न हो सके।''[26]

विडम्बना यह है कि अन्दर–बाहर या आत्म–अन्य के अलगाव की बनी–बनाई परिपाटी का शिकार बुद्धिजीवी वर्ग भी हो जाता है। अन्दर–बाहर या आत्म–अन्य की संवादहीनता के ही चलते हनीफ और शरद अन्ततः एक ऐसी स्थिति में पहुँचे जाते हैं, जहाँ न तो वह खुद को समझ पा रहे हैं और न ही समाज को 'न हिन्दू न मुसलमान' की जमीन पर खड़े होने का दावा करने वाले खुद एक दूसरे से असहज महसूस करने लगते है। ''असल में उन शको–सुबहों के माहौल में हम अनायास ही आपस में ही अविश्वास करने लगेथे। नामों में इतना मतलब भरने वाले प्रवृत्ति के खिलाफ

बोलते–बोलते हम खुद उसी प्रवृत्ति के होते जा रहे है।... यही करने लगे थे हम उस बरस कि जिनकी बात गलत मान रहे थे, उन्हीं की परिभाषाओं को मंजूर कर बैठे।''[27]

नफरत के ऐसे स्याह समय में केवल बाहर ही नहीं बल्कि अन्दर भी कुछ दरक रहा है। बाहर का घमासान अन्दर भी चला आया है। हनीफ और शरद जैसे बुद्धिजीवियों के भीतर भी कोई दूसरा झाँकने लगा है। हनीफ और शरद अपने इस 'आत्म–संकट' से जूझ रहे हैं या यूँ कहे कि अपनी ही खाल के नीचे छिड़े दंगे से दरपेश होने की कोशिश कर रहे हैं, जिसमें वह टूट भी रहे हैं, हार भी रहे हैं, लेकिन खुद के संशय से टकरानें की कोशिशें भी जारी है.....।

बहरहाल, सारे अकेलेपन और विफलता के बावजूद अपने ही भीतर मौजूद संशय से साक्षात्कार की चुनौती साम्प्रदायिक फासीवाद के प्रतिरोध की ओर एक सार्थक कदम है। साम्प्रदायिक फासीवाद के प्रतिरोध के इस आत्मसंघर्ष में याद आता है, गाँधी का आत्मालोचना सम्बन्धी वह प्रसिद्ध आह्वान, ''हर कोई अपने को देखे।''[28] जरूरत है कुछ ऐसे निहायत जरूरी सवालों, जो हमारे अन्दर की गहराइयों में घुमड़ रहे हैं, बेचैन कर रहे हैं और जिन्हें हम 'पॉलिटिकल करेक्टनेस' के आग्रह (?) या फिर जटिल सवालों को कालीन के नीचे दबा देने की सुविधाजीवी मानसिकता के चलते नजरअंदाज कर देते हैं, से टकराने की, जूझने की। न कि 'रेडीमेड' जवाब देकर अपने कर्तव्यों की इति श्री समझ लेने की। जरूरत इसकी भी है कि अन्दर–बाहर या आत्म–अन्य को एक दूसरे से अलगाने की बजाय, उनके मध्य सार्थक–सहज संवाद हो–कबीर की कविता की भाँति, जो अपने मानस के गहरे अन्तर्द्वन्द्व की उधेड़बुन से उपजती है और आत्म–अन्य के मध्य निरन्तर संवाद करते हुए जारी रखती है– एक सतत् स्पन्दित जिरह.... बाहर–भीतर सबद निरन्तर....।

सन्दर्भ स्रोत :

1. 'आलोचना' – संपादक, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, अंकः अप्रैल–जून 2000, से उद्धृत, पृष्ठ–218।
2. 'हमारा शहर उस बरस' गीतांजलि श्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998, फ्लैप से उद्धृत।
3. वहीः पृष्ठ–10।
4. वहीः पृष्ठ–7।
5. 'अनभै साँचा' – मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, से उद्धृत– पृष्ठ–129।
6. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्रीः पृष्ठ–7।
7. वहीः पृष्ठ–12।
8. वहीः पृष्ठ–25।
9. वहीः पृष्ठ–125।
10. 'आलोचना'– संपा०, नामवर सिंह, अंकः अप्रैल–जून 2000 से उद्धृत, पृष्ठ–253–54।
11. 'संस्कृतिः वर्चस्व और प्रतिरोध'– डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ सं०–74।
12. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्रीः पृष्ठ–101।
13. 'कसौटी'– संपा०, नन्द किशोर नवल, अंक–अप्रैल–जून 2001, से उद्धृत, पृष्ठ–32–33।
14. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्रीः पृष्ठ–82–83।
15. वहीः पृष्ठ–98।
16. वहीः पृष्ठ–28।
17. वहीः पृष्ठ–66–67 व 103।

18. वही: पृष्ठ–81।

19. वही: पृष्ठ–156।

20. वही: पृष्ठ–157।

21. वही: पृष्ठ–158।

22. वही: पृष्ठ–233।

23. वही: पृष्ठ–2962।

24. वही: पृष्ठ–172–173।

25. वही: पृष्ठ–8

26. 'हिन्दू , हिन्दुत्व, हिन्दुस्तान'–सुधीर चन्द्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ–8।

27. गीतांजलि श्री– 'हमारा शहर उस बरस', पृष्ठ–173।

28. 'हिन्दु, हिन्दुत्व, हिन्दुस्तान'–सुधीर चन्द, से उद्धृत, पृष्ठ–81।

तृतीय अध्याय

विश्रृंखलता का कथा शिल्प : एक सर्जनात्मक प्रयोग

गीतांजलि श्री ने 'हमारा शहर उस बरस' उपन्यास को विश्रृंखलता के कथा–शिल्प के ताने–बाने से रचा बुना है, जिसमें उपन्यास–लेखन के प्रचलित ढाँचे का अतिक्रमण तो है ही साथ ही एक नए कथा–मुहावरे का ईजाद भी। 'हमारा शहर उस बरस' में गीतांजलि श्री की इस प्रयोगधर्मिता और सृजनशीलता के सन्दर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव लिखते हैं कि ''हमारा शहर उस बरस' के ढीले–ढाले रूपबन्ध की अपनी बारीकियां थी, अपनी खास कथा–युक्ति जिसमें एक सामान्य वाक्य की एक ही अर्थध्वनि जरूरी नहीं है। यह कला है जो बेपरवाही में ही छिपी है"[1]

बहरहाल, सबसे मौजूं सवाल यह है कि विश्रृंखलता के कथा–शिल्प की जरूरत क्यों आन पडी? लेकिन इसके पहल कथ्य से दो–चार होना समीचीन होगा।

'हमारा शहर उस बरस' का कथ्य, निश्चित दिशा में गतिशील होते एकसूत्रीय यथार्थ की बजाय बहुआयामी और विश्रृंखलित यथार्थ को प्रतिपाद्य बनाने के कारण बिखरा–छिटका लगता है। चूँकि इसके कथ्य में एक ऐसा जटिल व छितराया हुआ विद्रूप यथार्थ है, जो केवल वाह्य धरातल पर ही नही बल्कि आन्तरिक धरातल पर भी घटित हो रहा है। जो स्थिति बाहर है, वही अन्दर भी है। साम्प्रदायिक फासीवाद का गहराया स्याह अंधेरा केवल बाहर ही नहीं बल्कि हमारे भीतर भी घर कर गया है। कुछ यूँ कि " असल दंगा वहाँ है, जहाँ खून बह रहा है। .....यहाँ भी तो बह रहा है, हमारी रगों में, इस पतली–सी खाल के नीचे!"[2]

कथ्य और शिल्प के सन्दर्भ में सवाल यह भी कि दृश्य धरातल (जमीनी धरातल) और अदृश्य धरातल (मानसिक धरातल) के इस अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति किस रूप में हो? द्वन्द्व–अन्तर्द्वन्द्व की यह प्रक्रिया तब और भी जटिल हो जाती है, जब न खुद की गति समझ में आ रही हो और न ही समाज की गति। एक दोहरी चुनौती यह भी है कि खतरे को न केवल समझना है बल्कि उसे कहना भी है। वो भी अभिव्यक्ति के संकट के कठिन क्षणों में, जब समझने तथा कहने का स्पेस बाहर ही नहीं, बल्कि भीतर तक भी नहीं छोडा जा रहा हो।

कहना न होगा कि एक उलझे हुए समय के जटिल–विश्रृंखलित यथार्थ का प्रकटीकरण एक निश्चित फ्रेमवर्क में सम्भव ही नहीं है। चूँकि जिस तरह धरती के अन्दर का ताप ज्वालामुखी के गरम और तरल लावे के रूप में निकलता है और उसकी गति अनियन्त्रित और दिशा अनिर्दिष्ट होती है, उसी तरह इस उपन्यास में जहरीले सामाजिक

यथार्थ को दोनों धरातलों– वाह्य एवं आन्तरिक, पर छिड़े दंगों में देखा जा सकता है जिसमें यथार्थ के इन छितराए टुकड़ों को यथा सम्भव समेट लेने की जिद ही महत्वपूर्ण है, टुकड़ों का क्रम या संयोजन नहीं। इस सन्दर्भ में ललित कार्तिकेय का यह कथन गौरतलब है कि '"हमारा शहर उस बरस' में यथार्थ कुछ ऐसे ही अप्रत्याशित रूपों में प्रकट होता है। कथित सेकुलर लोकतन्त्र की कोख में अरसे से गुपचुप पनपता हिन्दुत्ववादी फासिज्म, जिसने खुद को 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के नाम से इज्जतदार बाना पहना है, एक आकस्मिक विस्फोट की तरह सतह पर आता है और एकसूत्र यथार्थ को तहस–नहस कर उसे एक कोलाज में बदल देता है।''[3] तो जाहिर है कि यथार्थ के अप्रत्याशित रूपों की अभिव्यक्ति के लिए परम्परागत–प्रत्याशित शिल्प पर्याप्त ही नहीं था।

प्रसंगवश, नकलकर्ता के रूप में कथालेखिका या यूँ कहें कि गीतांजलिश्री के इस कथन से भी रूबरू हो लें– ''मगर मैं तो टुकड़े ही उठाती रही। वक्त नहीं था, सलाहियत की छोड़िए, कि बीच के हिस्से भरूँ, जोड़ती कड़ियाँ तलाशूँ। किसी भी चीज को इत्मीनान से करने का वक्त नहीं था। बस, डरते–डरते, जल्दी–जल्दी, इनकी कॉपी करती गई थी। चाहे इधर का उधर लिखा जाए, गैर जरूरी कलम में खिंच आए, यहाँ का टुकड़ा वहाँ चस्पा कर जाऊँ। जब जीवन ही 'कोलाज' बन गया था, जिसमें बम के विस्फोट से जैसे, कतरे उछलते हैं और इस जगह के उस जगह जा चिपकते हैं, निहायत बेतुकी आकृतियाँ गढ़ते, तो अधूरे बिखरे टूटे से आखिर बचाव था ही कहाँ?''[4]

जाहिर है कि लेखिका का यह बयान विश्रृंखलता के कथा–शिल्प की जरूरत की ओर इशारा करता है। दरअसल कथ्य अपने अनुरूप शिल्प की तलाश तो करता ही है और कहा जा सकता है कि 'हमारा शहर उस बरस' में यह तलाश मुकम्मिल हुई है। कथ्य और शिल्प के अन्तस्सम्बन्ध की पड़ताल, वाया 'हमारा शहर उस बरस' में द्रष्टव्य है कि कथ्य एक रेखीय न होकर बहुआयामी है, नतीजतन शिल्प भी विश्रृंखलित है। लेकिन मार्के की बात यह है कि यह विश्रृंखलता उपन्यास की कमजोरी न बनकर उसकी ताकत बनती है। कथ्य और शिल्प के इस अन्तस्सम्बन्ध के सन्दर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव का यह कथन महत्वपूर्ण है कि ''खण्ड–खण्ड जीवन के तथ्यात्मक और काल्पनिक अनुमान पूर्ण पाठ में गीतांजलि ने एक ऐसा ढीला–ढाला शिल्प भी खोज लिया है जिसकी सार्थकता असंदिग्ध है।''[5]

जहाँ तक उपन्यास के चरित्र–विधान का सवाल है, तो इसमें शरद, हनीफ और श्रुति के चरित्र के बहाने साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध का ध्वजवाहक बने बुद्धिजीवी वर्ग के चरित्र का पोस्टमार्टम किया गया है। इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण यह है कि बुद्धिजीवी वर्ग के वाह्य संघर्ष के साथ–साथ उनके आन्तरिक संघर्ष को भी बखूबी उद्घाटित किया गया है, क्योंकि बुद्धिजीवी वर्ग दोहरी लड़ाई की राह पर है। वह दूसरों से तो लड़ ही रहा है, लेकिन इसी प्रक्रिया में वह खुद से भी दरपेश हो रहा है। बाहर और अन्दर के अन्तर्द्वन्द्व की इस उधेड़बुन के सहारे गीतांजलि श्री ने बुद्धिजीवी वर्ग के सच का साक्षात्कार कराया है। बेशक सच का यह साक्षात्कार बुद्धिजीवी वर्ग को तो प्रश्नचिन्हित करता है, लेकिन साथ ही उन्हें खुद को टटोलने की ओर भी ले जाता है।

शरद का चरित्र बुद्धिजीवियों के लिए कुछ बेहद जरूरी और असुविधाजनक सवाल उठाता है, जिन्हें प्रायः सरलीकरण की प्रवृत्ति के चलते दरकिनार कर दिया जाता है। साथ ही शरद बुद्धिजीवी समुदाय के उस सच का भी प्रतिनिधित्व करता है, जो साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रतिरोध का अगुआ होते हुए भी अपने अवचेतन संस्कारों की जड़ता से मुक्त नहीं है। बुद्धिजीवी वर्ग के इस द्वैध अर्थात् चेतन और अवचेतन के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति शरद के चरित्र में होती है। शरद जो बुद्धिजीवियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति के खिलाफ लड़ाई लड़ता है और जिसके ऊपर 'गैर हिन्दू' कहकर पत्थर फेके जाते हैं, वो भी जब यह खबर पाता है कि ट्रेन में कुछ औरतों का रेप हो गया, तो उसके मन के अंधेरे कोने से यह टीस उठती है कि 'हिन्दू औरतें न हो' शरद के अन्तर्द्वन्द्व की यह गहरी बेचैनी कुछ यूँ शब्द पाती है कि, ''मुझे खुद नहीं पता बेवरली, क्या बातें मन में हैं, क्यों किसी पर ज्यादा दुखी हो जाता हूँ, मैं नहीं जानता। बात पहले निकल आती है, उसका खयाल बाद में आता है, वजह बाद में पता चलती है, अगर पता चलती है। क्या पता उसे भी बुरकेवालियों के लिए ज्यादा दुःख हुआ हो, क्या वह बता देगा मेरी तरह? मैं समझ ही नहीं पाता मैं क्यों चिल्लाता हूँ, हम एक हैं और फिर शक करता हूँ कि क्या हम एक हैं?''[6]

हनीफ प्रतीकीकरण की राजनीति से जूझ रहे उस बुद्धिजीवी का चरित्र है, जो अपनों के ही बीच दरकिनार कर दिये जाने की पीड़ा झेल रहा है। हनीफ का फूट–फूट कर रोना, उसकी गहरी चुप्पी और डर साम्प्रदायिकता के प्रतिरोध के संघर्ष में लगातार अकेले पड़ते जाने की गहरी पीड़ा से उपजा है। हनीफ के अकेलेपन की इस मर्मान्तक

पीड़ा को गीतांजलि श्री कुछ यूँ कलमबद्ध करती है कि ''हाथ से बहता दिलासा और अपनापन हनीफ को बेचैन कर रहा है। उसका जीव सिकुड़ रहा है। वह कस कर हाथ झटकना चाहता है। गुस्से की टीस है, जो उस हाथ के नीचे है। बाकी सारा बदन एहसासहीन है, जैसे वहाँ जिल्द नहीं खुला पड़ा घाव है, जिस पर श्रुति ने हाथ दबा दिया है।''[7] हनीफ की यह पीड़ा पाठक के हृदय को कुरेद कर रख देती है और हनीफ की पीड़ा का साझीदार बना देती है।

श्रुति सब कुछ बेमानी हो चले समय में व्यर्थता–बोध से घिरे होने के बावजूद अपने समय और समाज के संकटों की गवाह बनती है जो प्रतिरोध की संस्कृति का प्रतीक है। इस गवाही में श्रुति, हनीफ, शरद और दद्दू से तो जिरह करती ही है, खुद को भी कटघरे में खड़ा करती है।

श्रुति का संघर्ष हनीफ और शरद से इस मायने में और चुनौतीपूर्ण हो जाता है कि वह अपने अन्दर–बाहर से तो संघर्ष कर ही रही है, शरद के सवालों और हनीफ की गहरी चुप्पी और डर से भी जूझ रही है। और साथ ही समाज में औरत की स्थिति से भी, कुछ यूँ कि, ''उसके भीतर डर–गुस्सा– शर्म एक साथ लपके थे। उस छात्र ने हिन्दू–मुसलमान, बर्बर–सभ्य, नैतिक–अनैतिक, आज के, बीते, सारे विवाद और उलझाव में औरत की जगह दिखा दी थी। एक मन्दिर यानी पूजा स्थल, जिसे इनसान या हैवान यानी पुरुष, पूजेगा या भ्रष्ट करेगा। उस पर हिंदुआई करेगा या मुसलमानी।
औरत का क्या होगा?''[8]

.... और अब दद्दू – चरित्रों की भीड़ में सबसे अलग। व्यक्तित्व की रेंज इतनी विशाल कि, ''यह भी दद्दू ही कर सकते थे कि विषय है मौत और मौसम है ठहाकों का।''[9] दरअसल दद्दू ने साम्प्रदायिकता के अतीत को भी देखा है और उसके वर्तमान को भी। अपने इस अनुभव के चलते वे भविष्य के प्रति गहरे सशंकित है। शरद, हनीफ और श्रुति अपने वर्तमान से ही जूझ रहे हैं। इस व्यापक रेंज के चलते उपन्यास के कैनवास में दद्दू का रंग सबसे जुदा है और सबसे अमिट भी।

दद्दू अपने अनुभव की व्यापकता के कारण साम्प्रदायिकता के वर्तमान रूप को शरद, हनीफ और श्रुति के बरक्स ज्यादा साफ ढंग से देख पा रहे हैं। धर्म की असल पड़ताल करते हुए दद्दू अपनी बचपन की स्मृतियों में विचरते हैं और कहते हैं कि ''हम बच्चों के लिए धर्म का मतलब खाना, खेलना, त्योहार होता है। धर्म में असली चीज यही

है, मिलने मनाने के रंग–ढंग, जो लोगों–मोहल्लों को जोड़ते हैं। बाकी पूजा–नमाज तो सबका निजी मामला है, दिन भर करो, न करो... ये चीखने–चिल्लाने वाली चीजें नहीं हैं, ... कट्टरता धर्म का हिस्सा नहीं है, प्रभुत्व का है।''[10]

उपन्यास के अन्त में जब साम्प्रदायिकता का उन्माद अपने चरम पर है और युवकों की टोली हनीफ को अपमानित करने के लिए उसके घर जा पहुँचती है, तो दद्दू दीवार बनकर सामने आ खड़े होते हैं। हमेशा हँसने–हँसाने वाले दद्दू तब पहली बार चीखते हैं। यह जरूर है कि दद्दू को भीड़ दबोचकर हवा में उछाल देती है और दद्दू गिर जाते हैं, हमेशा के लिए। यह महज दद्दू का गिरना नहीं है बल्कि यह मानवीय–मूल्यों का धूल–धूसरित होना है।

और वो दद्दू की दीवान से छिटकती हँसी, जिसे श्रुति कभी काजल की डिबिया भर बटोरती, तो कभी अमूल टिन बराबर। लेकिन क्या वह महज हँसी ही है? दरअसल दद्दू की हँसी में गहरी पीड़ा, व्यंग्य और विडम्बना छिपी हुई है, जो केवल हँसाती ही नहीं बल्कि सिहरन पैदा करती है और सोचने पर विवश करती है। कुछ यूँ कि ''गोडसे बेकार बुरा बना। पिस्तौल की गोलियाँ नाहक बरबाद कीं। खुद ही बुड्ढ़ा आज के आते–आते ढेर हो जाता। उसका कलेजा कहाँ कि ये सब देख पाता?''[11]

बहरहाल, चरित्रों की इस पड़ताल से जाहिर है कि गीतांजलि श्री ने चरित्रों की तह में जाकर, परत–दर परत उघाड़कर उनके स्पन्दन, उनकी धड़कनों को पकड़ा है। वैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो मानों अल्ट्रसाउण्ड टेक्नीक हो, जो अन्दर की सारी हलचलों को कागज के परदे पर अक्षरों की रूपाकृति में हूबहू उतार रही हो। दरअसल गीतांजलि श्री के यहाँ मूर्त से ज्यादा अमूर्त धरातल पर चीजें घटित होती है। मूर्त धरातल पर घटित चीजों को दिखाने की अपेक्षा अमूर्त धरातल पर घटित चीजों को दिखाना कठिन है और चुनौतीपूर्ण भी। कहना न होगा कि 'हमारा शहर उस बरस' में गीतांजलि श्री के 'शिल्पी' रूप ने इस चुनौती का अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्वहन किया है।

अब उपन्यासों में 'वातावरण की सृष्टि' का सवाल– 'हमारा शहर उस बरस' में वातावरण केवल वातावरण न रहकर उपन्यास का अन्तःकरण बन जाता है। शहर का तनाव पूरे उपन्यास पर पसरा हुआ है। गली–गली में लाउडस्पीकर बज रहे हैं, जिन पर

धर्म के ठेकेदार चीख रहे हैं। यह भी कि ''जितनी जोर से मठ और मन्दिरों में आरती हो रही है, उतनी ही जोर से मस्जिदों की मीनारों से अजान गूँज रही है।

जो भी है, हम बहुतेरे लोग दोनों आवाजों से डर रहे हैं।[12] लोगों का 'दोनों आवाजों' से डरना एक अदृश्य व संवेदनशील 'अन्तर' में व्याप्त खौफ को ही प्रतीकित करता है। तात्पर्य यह कि तनाव उपन्यास में दोहरे स्तर पर चित्रित है– शहर की घटनाओं का तनाव शहर में रहने वालों के भीतर भी बखूबी द्रष्टव्य है। वातावरण की यह समान्तर सृष्टि लेखिका के सधे शिल्प का नमूना है।

शहर में पसरे हुए तनाव और चीखते हुए सन्नाटे को कुछ यूँ शक्ल मिलती है कि शहर की हवा में खदबदाता डर घुल गया है। साथ ही हवा में ज्यादा कलफ भी लग चुका है और वह तनाव से कड़कड़ा रही है। सारा शहर दहशतजदा हो चला है। शहर का आलम यह है कि प्रार्थना सभा में स्टेनगन लिए जवान घूम रहे हैं और सिर्फ बिल्लियाँ सड़कों पर निकल रही हैं। माहौल कोई भारी सा आसमान है, जो महीन धागों पर लटका हुआ है और नीचे झुकता जा रहा है और सीधे हम सबके जेहन में उतर रहा है।

''साँस रोके हुए
हर चीज़ नजर आती है
आज
ये शहर इस सहमे हुए बच्चे की तरह
अपनी परछाई से भी डरता है।''[13]

–जावेद अख्तर (तरकश)

शहर के वातावरण में तैर रहे खदबदाते डर, डरावनी चीख और गहरी चुप्पियों को शब्द प्रदान करने का काम गीतांजलि श्री ने प्रतीकात्मकता के सहारे बखूबी किया है। प्रतीकों और संकेतों के माध्यम से लेखिका ने साम्प्रदायिकता के उन्माद और ट्रेजडी को उघाड़ कर रख दिया है।

''... लाशों के खेत में गोभी की फसल सुने हो कभी?

... मैंने तो कभी लाश नहीं देखी जीवन में। अरे, टोस्ट जल रहा है।

... बिल्लियों का शहर।

... हमारे इस शहर में उन दिनों लाउडस्पीकरों से धर्म बँटते थे और सुनसान रातों में घर की चहारदीवारी पर बिलौटे रोते थे।''[14]

फैन्टेसी के प्रयोग के माध्यम से भी गीतांजलि श्री ने वातावरण की भयावहता को बिम्बित किया है। कुछ यूँ कि, ''डगालों के बीच हवा लोप हो गई है। डगालें श्रुति को घेर रही है। उसी में घुस रही है, उसी में उग रहा है वह जंगल, जो घनाता जा रहा है, जो शहर है, जो ढँढार है, जहाँ हवा नहीं पहुँच पा रही, साँसें रुक रही है।''[15]

स्पेस के बेहतरीन प्रयोग के जरिए गीतांजलि श्री ने उपन्यास के शिल्प को एक नया आयाम दिया है। साथ ही कथ्य को और अधिक सम्भावनापूर्ण बना दिया है। गीतांजलि श्री के लेखन में कहे जा रहे से ज्यादा महत्व अनकहे का है, क्योंकि उनके यहाँ मूर्त धरातल से ज्यादा अमूर्त धरातल पर चीजें घटित होती है। गीतांजलि श्री ने 'हमारा शहर उस बरस' में स्पेस के कुशल प्रयोग से अपने समय के स्याह सच को और अधिक गहरा कर दिया है या यूँ कहें कि सच से ज्यादा सच। स्पेस कथानक को तो प्रतीकात्मकता प्रदान करता ही है, पाठक हेतु भी मानो थोड़ा अवकाश प्रदान करता है – रुक कर, ... थम कर, जो हो रहा है उसे समझने और उस पर सोचने के लिए। इस सन्दर्भ में परमानन्द श्रीवास्तव का यह कथन गौरतलब है कि, ''गीतांजलि श्री में किस्सागोई का हुनर भर नहीं है, कुछ अन्तराल जानबूझ कर छोड़ने, संकेत या अभिप्राय रचने का विवेक भी है। यही वह कला है, जो 'हमारा शहर उस बरस' में अधिक विकसित रूप में मौजूद है।''[16]

उपन्यास की एक महत्वपूर्ण संरचनागत विशेषता इसकी प्रश्नपरक भंगिमा भी है। ह्रासोन्मुख समाज में मानवीय अस्तित्व पर छाये संकट तथा उसके कारकों की पहचान और इस चुनौती से जूझने में सैद्धान्तिक रूप से सक्षम लोगों की सीमाओं की पड़ताल करने के क्रम में लेखिका जगह–जगह प्रश्न खड़ा करती है। प्रकारान्तर से, प्रश्नों के रूप में यह चिन्ताएँ भी हैं और समस्या की पहचान भी। बानगी के तौर पर–

'' ... इतिहास की सारी बुनाई में से एक ही धागा क्यों निकालते हो?

... क्यों हम आज और कल के प्रति इतने नाउम्मीद हैं कि पीछे ही देख रहे हैं और उसमें भी केवल अलगाव के प्रतीकों को ढूँढ़ रहे हैं।

... हमारे अन्दर कुछ नहीं हो रहा? सब बाहर हो रहा है?

... हम कहाँ से कहाँ आए हैं? आगे बढ़े हैं? या क्या यह गोल चक्कर है और हमने घेरे का एक चक्कर पूरा कर लिया है, बस?''[17]

भाषा के स्तर पर एक नई सर्जनात्मकता गीतांजलि श्री के लेखन में मौजूद है। शब्दों के साथ गीतांजलि श्री का खिलंदड़पन भाषा को एक जीवन्त प्रवाह तो देता ही है, साथ ही उसमें नए अर्थ भी भरता है। कुछ यूँ कि,

''...वे लिख ही नहीं रहे थे, लिख पा ही नहीं रहे थे।

... हमारा शहर आधा हिन्दू, आधा मुसलमान नहीं था, हमारा शहर बन चुका था आधा हिन्दू–नहीं, आधा मुसलमान नहीं।''[18]

शब्दों का यह सधा प्रयोग भाषा की मितव्ययिता और सम्प्रेषणीयता का अद्‌भुत संयोग है। शब्दों की कलाबाजी द्वारा अभिप्रेत की ऐसी प्रभावी व अचूक सर्जना उपन्यास में कई स्थलों पर देखी जा सकती है। भाषा के स्तर पर समाज के रोजमर्रा के अनुभवों से उपजे तमाम नए शब्दों का प्रयोग, जैसे– 'मुसलमानियत', 'आहिस्तगी', 'इन्टिलैक्चुअलाना' आदि देखा जा सकता है जो भाषा को एक नया आत्मीय तेवर प्रदान करता है।

इसी प्रकार शरद, हनीफ, श्रुति और दद्दू की आपसी बातचीत थियेटर के डायलाग का आभास दिलाती है। उपन्यास के शिल्प पर थियेटर का यह प्रभाव सम्भवतः गीतांजलि श्री के थियेटर से गहरे रूप से जुड़े होने के कारण भी है। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि इसके चलते पाठक पर पकड़ ढीली नहीं होती, बल्कि मजबूत ही होती है।

और अब उपन्यास के आवरणचित्र पर भी एक दृष्टि। 'हमारा शहर उस बरस' के मुखपृष्ठ पर गुलाम मोहम्मद शेख द्वारा बनाया कबीर का चित्र 'कहत कबीर' मौजूद है। कहना न होगा कि प्रतिरोधी संस्कृति के प्रतीक कबीर का चित्र उपन्यास की थीम को रिफ्लैक्ट करता है। लेकिन इस सन्दर्भ में ललित कार्तिकेय की जिज्ञासा भी प्रासंगिक हो उठती है कि ''उपन्यास के भीतर की लेखिका को 'न दो–टूक कहने का तजुर्बा था, न हठ।' और इसीलिए वह लिख सकी। जबकि उपन्यास के मुख पृष्ठ पर गुलाम मोहम्मद शेख द्वारा बनाया कबीर का चित्र 'कहत कबीर' मौजूद है। कबीर, जिनमें दो–टूक कहने

का तजुर्बा भी था और हठ भी। क्या यह कबीर से एक सम्पूर्ण टूट है या उनकी कहत को एक बदले और उन्मादी समय में सम्भव करने की पद्धति की खोज?''[19] वस्तुतः उपन्यास की संवेदना तथा लेखिका की 'नकल करते जाने की जिद' ही बता देती है कि यह कबीर से कोई टूट नहीं, उनके कहत को एक बदले और उन्मादी समय में सम्भव करने की पद्धति की खोज ही है। पद्धति की खोज इसलिए कि अभिव्यक्ति के पूर्व–प्रचलित उपकरण व पद्धतियाँ नाकाफी हो चुकी हें और जो घट रहा है उसकी गवाही भी दर्ज करनी ही है। उपन्यास अपने कथ्य व ताने–बाने से इसकी पुष्टि करता है।

अंत में, उपन्यास के शिल्प के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जिस तरह इसका कथानक 'टाइप्ड' नहीं है, उसी तरह उसकी संरचना भी परंपरागत परिच्छेदों अथवा आदि–मध्य–अंत में विभक्त नहीं है। उपन्यास बस प्रारंभ होता है और समाप्त होता है– कागज पर। परन्तु, पुनः इसका विस्तार भी होता है– कागज पर नहीं पाठक के चित्त पर, पाठक की चेतना में। यहाँ समाधान का कोई ब्लू–प्रिंट प्रस्तावित नहीं किया गया है, कुछ चिन्ताएँ सवालों के रूप में पाठकों के समक्ष रखी गई हैं– झकझोरने के लिए, सोचने के लिए, तत्पर होने के लिए।

सन्दर्भ–स्रोत :

1. 'राष्ट्रीय विघटन पर एक शोकगीत' – परमानन्द श्रीवास्तव, आलोचना' प्रधान संपादक– नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक– अप्रैल–जून 2000, पृ. 214
2. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– 1998, पृष्ट–111–112
3. 'सैद्धान्तिकी और लेखन की एक पुनश्चर्या' – ललित कार्तिकेय, आलोचना, अंक– अप्रैल–जून 2000, पृष्ठ–208
4. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्री, पृष्ठ–81
5. 'अपनी ही खाल के नीचे' – परमानन्द श्रीवास्तव, पहल– संपादक ज्ञानरंजन, पहल, जबलपुर, अंक– जुलाई–अगस्त–सितम्बर–1998, पृष्ठ–250
6. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्री, पृष्ठ–235
7. वही, पृष्ठ– 233
8. वही, पृष्ठ– 249
9. वही, पृष्ठ– 154
10. वही, पृष्ठ–262
11. वही, पृष्ठ– 287
12. वही, पृष्ठ–183
13. 'तरकश'– जावेद अख्तर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ–78
14. 'हमारा शहर उस बरस'– गीतांजलि श्री, पृष्ठ–8, 33, 101
15. वही, पृष्ठ–347
16. 'अपनी ही खाल के नीचे' – परमानन्द श्रीवास्तव, पहल : जुलाई–अगस्त–सितम्बर, 98, पृष्ठ 257

17. 'हमारा शहर उस बरस' – गीतांजलि श्री, पृष्ठ– 66, 103, 233, 317

18. वही, पृ. 21, 240

19. 'सैद्धान्तिकी और लेखन की एक पुनश्चर्या', ललित कार्तिकेय, आलोचना, अंक– अप्रैल–जून, 2000, पृष्ठ–212

और बहस जारी है...

आज साम्प्रदायिकता भारतीय समाज के 'कामनसेन्स' के रूप में तब्दील होती जा रही है और सामाजिक मानस के नैतिक विवेक व सहज–बोध का स्पेस निरन्तर सिकुड़ता चला जा रहा है। बहस और सम्वाद के रास्ते बन्द होते जा रहे हैं और प्रतीकीकरण की राजनीति के जरिए राजसत्ता–समाजसत्ता और भावतन्त्र–विचारतन्त्र पर वर्चस्व स्थापित करने की कोशिशें जारी हैं। ऐसे संकटपूर्ण परिदृश्य में साम्प्रदायिकता की प्रकृति के साथ–साथ उसके विरुद्ध प्रतिरोध कर रही शक्तियों की भी पड़ताल जरूरी हो जाती है।

प्रतिरोधी संस्कृति के सिद्धान्ततः अगुआ बुद्धिजीवी वर्ग की यह भूमिका मानी जाती है कि वह जन–मानस को गहरी हताशा, अविश्वास, भय और घृणा के वातावरण से बाहर निकाल कर स्वस्थ व रचनात्मक सामुदायिक जीवन की निर्मिति में योगदान करे। लेकिन यह गहरी विडम्बना है कि आज स्वयं बुद्धिजीवी वर्ग ही द्वन्द्व–अन्तर्द्वन्द्व व किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति से गुजर रहा है। उसकी सैद्धान्तिकी स्वयं उसके लिए ही नाकारा सिद्ध हो रही है। पाश ने वाजिबन कहा है,

''इस तरल अंधेरे के खिलाफ

अब आप पहले की तरह नहीं लड़ सकते

कोई सुविधाजनक और अनचाही ठण्डी लड़ाई।''

तो सवाल यह उठता है कि साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रतिरोध का मुहावरा आखिर क्या हो ?

प्रतिरोधी ताकतों के अपने अन्तर्विरोधों, संशय–निराशा तथा उनके समक्ष विद्यमान चुनौतियों से पार पाने हेतु आत्मीय संवाद– हम, आप, सबसे – की प्रक्रिया से गुजरना महत्वपूर्ण हो जाता है। गीतांजलि श्री का उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' इन्हीं कोशिशों से उपजा है, जिसमें बुद्धिजीवी वर्ग के संशय और दुविधा के अंधेरों की पहचान की गई है। इन अंधेरों की बेचैनी से उपजे सच अर्थात् 'खुद को टटोलने की जरूरत',

गाँधी के 'हर कोई अपने को देखे' से जुड़ती है और आत्मालोचना की विकलता की ओर ले जाती है। साथ ही प्रतिरोधी संस्कृति के प्रतीक कबीर से भी खुद को एकाकार कर अन्दर–बाहर या आत्म–अन्य के मध्य सहज–सार्थक संवाद की जरूरत पर भी बल देती है।

साम्प्रदायिकता और उसके प्रतिरोध को लेकर हो रही तमाम बहसों में यह ध्यान रखना होगा कि ''स्याह और सफेद में नहीं बटी हैं कौमें, न सच, न समाज।'' दरअसल स्याह और सफेद के बीच भूरे–धूसर कुछ घुले–मिले रंग भी हैं। जरूरत उन घुले –मिले रंगों को जानने–पहचानने की भी है।

बहरहाल, बहस तो जारी ही है.....

परिशिष्ट - 1

रू–ब–रू रचनाकार से

आनन्द : 'हमारा शहर उस बरस' में फैली बेचैनी और अन्तर्द्वन्द्व से आभास होता है कि उपन्यास लिखने की प्रेरणा भी किसी बेचैन परिवेश की उपज होगी। इस बारे में कुछ बताएँ।

गीतांजलि श्री : 1989 के बाद से ही शिलापूजन आदि कुछ ऐसा हुआ था कि माहौल में एक भारी एग्रेशन शुरू हुआ था और तब से लेकर मैं अकेली नहीं, बल्कि हम सभी कोई एक परेशानी से जूझ रहे थे। लिखना चाह रहे हैं पर लिख नहीं पा रहे हैं। माहौल ही ऐसा था कि लगा कि इसके अलावा कुछ और लिखना गलत है। इसका सम्बन्ध उन चीजों से भी था जो हम अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी में देख रहे थे कि यह क्या हो रहा है। कुछ ऐसी बातें कि अन्धविश्वासी लोग ही नहीं, बल्कि पढ़े–लिखे लोग भी बेवकूफी भरी बातें कर रहे थे। हमारे जैसे लोगों में भी दूसरा कोई झाँकने लगा था। इसलिए मुझे ऐसा लगा कि मैं इसी पर लिखूँ और ऐसी चीज लिखूँ जो एक लेसन हो, एक मैसेज हो, और ऐसा मुझे पहली बार लगा। हालाँकि साहित्य के बारे में मेरी ऐसी राय नहीं है जो प्रेमचन्द के समय में थी कि साहित्य लोगों को एजुकेट करे। दूसरी बात ये कि मैं कहानी नहीं लिखना चाह रही थी। वह कोई इन्टरटेनमेंट की बातें नहीं थीं। हमारे अन्दर–बाहर, इधर–उधर ऐसा चल रहा था। अब जब कहानी नहीं लिख रहे हैं तो किस तरह से अपनी बातें कही जाए। जिस तरह का यह विषय था, और जैसी हमारी दुनिया हो गयी थी, टुकड़े–टुकड़े में चीजें आ रही थीं। इसका कोई निश्चित स्वरूप नहीं था, इसका खाका अपने–आप बन गया।

आनन्द : साम्प्रदायिकता पर केन्द्रित कई रचनाएँ विगत वर्षों में लिखी गई हैं। फिर भी आपको इस विषय पर उपन्यास लिखने की जरूरत क्यों महसूस हुई ?

गीतांजलि श्री : ऐसे कई सवाल और कई मुद्दे हैं जिन्हें एड्रेस ही नहीं किया गया है और जिन्होंने इसे एड्रेस भी किया है, उन्होंने इसका सरलीकरण ही किया है। सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण कई अनकही, अनछुई

चीजें रह जाती हैं जिनका हमें सामना करना पड़ता है। यह उपन्यास सरलीकरण को तोड़ता है– अपने आप से दरपेश होने की कोशिश। एक ऐसे समय में जब चीजें उलट–पलट रही हैं, चीजों के नये मतलब निकाले जा रहे हैं, उनसे जूझने की भी एक कोशिश। वास्तव में यह उपन्यास ही सरलीकरण के खिलाफ है।

आनन्द : इस उपन्यास में स्पेस का सोचा–समझा प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है ...

गीतांजलि श्री : हाँ। जो स्पेस छोड़ी गयी है, वह केवल खाली स्पेस नहीं है। स्पेस में भी बहुत कुछ है। आप जो कुछ छोड़ते हैं उसका बहुत कुछ मतलब होता है। जैसे– थियेटर, वहाँ पर जो अधूरा छूट जाता है, बाद में वही गूँजता है। 'हमारा शहर उस बरस' का स्पेस पाठक को उकसाता है, विचलित करता है।

आनन्द : साम्प्रदायिकता पर केन्द्रित उपन्यास होने के साथ–साथ कई स्थलों पर इसमें स्त्री की पीड़ा मुखर दिखती है। यह सायास है या अनायास?

गीतांजलि श्री : ये चीजें अनायास ही आ गई है। नॉवेल डिजाइन करके नहीं लिखा गया है। इसका कोई फेमनिस्ट उद्देश्य तो नहीं है, फिर भी चूँकि मैं नारी हूँ तो निश्चित रूप से इसकी कोई छाप होगी ही।

आनन्द : साम्प्रदायिकता के विरुद्ध प्रतिरोध में बुद्धिजीवियों और स्ट्रीट फाइटरों की भूमिका को लेकर होने वाली बहस के बारे में आपकी क्या राय है?

गीतांजलि श्री : इस बारे में मेरी कोई नैरो डिफनिशन नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के एक्टिविज्म का अपना अलग–अलग ढंग होता है। हमारी आदत है कि हम फौरी असर वाले कार्यों को ही ज्यादा महत्व देते हैं। मेरी एक्टिविज्म एकान्त में बैठकर लिखना ही है और लोगों के सामने कुछ सवाल छोड़ना है। किताब पढ़कर आप बदल तो नहीं जाते, लेकिन आपके मन में कुछ चलता है तो यह भी महत्वपूर्ण है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ – ग्रंथ सूची

आधार – ग्रंथ :

गीतांजलि श्री – हमारा शहर उस बरस,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–1998.

संदर्भ – ग्रंथः

अजेय कुमार (संपा०) – धर्म, संस्कृति, साम्प्रदायिकता और वैश्वीकरण,
उद्‌भावना प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2002.

असगर अली इंजीनियर– भारत में साम्प्रदायिकता– इतिहास और अनुभव,
इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण–2003.

इरफान हबीब – भारतीय इतिहास में मध्यकाल,
सहमत, नई दिल्ली,
प्रथम संस्करण–1999.

कालिन्स और लापियर– बारह बजे रात के,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998.

के. एन. पणिक्कर – विश्वीकरण, संस्कृति और साम्प्रदायिकता,
लोक प्रकाशन गृह, दिल्ली
प्रथम संस्करण–2003.

चमन लाल (सं०) – जब जंजीरे टूटेंगी, पाश की प्रतिनिधि कविताएँ
संवाद प्रकाशन, मेरठ,
प्रथम संस्करण–2002.

जावेद अख्तर – तरकश,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
अष्टम् संस्करण–2001.

पुरुषोत्तम अग्रवाल – संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध,
राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–1995.

प्रेमचंद – साम्प्रदायिकता और संस्कृति,
वे प्रेमचंद से डरते हैं,
सहमत और जलेस, नई दिल्ली–2003.

विपिन चन्द्र – आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति,
अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–1999.

– भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय
निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नवम् संस्करण–1995.

मखदमू मोहिउद्दीन – बिसात–ए–रक्स,
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस,
नई दिल्ली, 1998.

मैनेजर पांडेय – अनभैं साँचा,
पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2002.

मोहन थपलियाल (स०)– बेटौल्ट ब्रेष्ट,
परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ
प्रथम संस्करण–1998.

राजकिशोर (सं०) – हिन्दू होने का मतलब,
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
पंचम संस्करण–2000.

सुधीर चन्द्र – हिन्दू, हिन्दुत्व, हिन्दुस्तान,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2003.

सुनील खिलनानी – भारतनामा,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2001.

हजारी प्रसाद द्विवेदी – अशोक के फूल,
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998.

– कबीर,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1990.

सहायक – ग्रंथ :

एस० आबिद हुसैन – भारत की राष्ट्रीय संस्कृति,
एन०बी०टी०, नई दिल्ली
चतुर्थ संस्करण–1998.

ए० आर० देसाई – भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,
मैकमिलन, नई दिल्ली
द्वितीय संस्करण–1976.

के० एन० पणिक्कर – औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष,
ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2003.

– संस्कृति, चेतना और विचारधारा – एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
सहमत, नई दिल्ली 1965

के० दामोदरन – भारतीय चिन्तन परंपरा,
ई० पी० एच०, नई दिल्ली, 1979.

नामवर सिंह – दूसरी परंपरा की खोज,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–1983.

पुरुषोत्तम अग्रवाल – तीसरा रूख,
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–1996.

– विचार का अनन्त,
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2000.

श्यामाचरण दुबे – भारतीय समाज,
एन०बी०टी०, नई दिल्ली
प्रथम संस्करण–2001.

समाचार पत्र :

राष्ट्रीय सहारा – 'हस्तक्षेप' : हिन्दी क्षेत्र में सांस्कृतिक पुर्नजागरण,
18 फरवरी, 1995.

– 'हस्तक्षेप' : हिन्दुत्व,
18 जनवरी, 2003.

पत्रिकाएँ :

आलोचना – प्रधान संपादकः नामवर सिंह,
सहस्त्राब्दि अंक– अप्रैल, जून, 2000
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

कथादेश – संपादकः हरिनारायण,
अंकःनवम्बर, 2003
सहयात्रा प्रकाशन, नई दिल्ली।

कृति संस्कृति संधान– संपादकः सुभाष गाताड़े,
अंक–जनवरी–मार्च, 2003
संधान, नई दिल्ली।

तद्भव – संपादकः अखिलेश,
अंक–अप्रैल, 2003
तद्भव प्रकाशन, लखनऊ।

पहल – संपादकः ज्ञानरंजन
अंक– जुलाई–अगस्त–सितम्बर–98,
पहल, जबलपुर।

हंस – संपादकः राजेन्द्र यादव,
अंक–जून, 2003
अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली।

अंग्रेजी पुस्तके :

David Luden (ed.)- **"Making India Hindi: religion Community and the politics of democracy in India."**
Oxford University press, Delhi, 1996.

E.H.KAR – **"What is history"**
Penguin, 1972.

J.L.Nehru – **"Discovery of India",**
Oxford University press, Delhi, 1999.

K.N.Panikkar (ed.) – **"The Concerned Indian`s guide to Communalism"** Viking, Penguin India,1999.

Praful Bidwai, Harbans Mukhia, Achin Vanaik (ed.) – **"Religion, Religiosity and Communal",** Manohar, Delhi, 1996.

Ram Puniyani – **"Communal Politics",**
J&P Publishers, Mumbai, 2003.